गोरक्ष संहिता

गोरक्ष-संहिता

*

सम्पादक :

डॉ० चमनलाल गौतम

रचयिता : मन्त्र महाविज्ञान, तन्त्र महाविज्ञान, मन्त्र योग, वैदिक मन्त्र विद्या, ओंकार सिद्धि, मन्त्र शक्ति से रोग निवारण–विपत्ति निवारण–कामना सिद्धि तथा प्राणायाम के असाधारण प्रयोग इत्यादि ।

सम्पादक : हठयोग प्रदीपिका, घेरण्ड संहिता, शिव संहिता, वृहद् शिव स्वरोदय आदि ।

*

प्रकाशक :

संस्कृति संस्थान

ख्वाजाकुतुब (वेदनगर), बरेली–२४३००३ (उ०प्र०)

फोन नं० ४७४२४३

प्रकाशक :
★ डॉ० चमनलाल गौतम
संस्कृति संस्थान
ख्वाजाकुतुब (वेदनगर)
बरेली–२४३००३ (उ०प्र०)
फोन : ४७४२४२

■

सम्पादक :
डॉ० चमनलाल गौतम

■

■

संशोधित संस्करण
सन् १९९२

■

मुद्रक :
❀ शैलेन्द्र वी० माहेश्वरी
नव ज्योति प्रेस
सेठ भीकचन्द मार्ग,
मथुरा (उ० प्र०)
फोन : ४०३८९५

■

मूल्य :
पन्द्रह रुपये मात्र।

भूमिका

महायोगी गोरक्षनाथ का नाम कोई अपरिचित नहीं है। वे योगविद्या के परमवेत्ता एवं आचार्य थे। मुमुक्षुजनों के समुदाय में उन्हें गुरु गोरखनाथ के नाम से जाना जाता है। गोपीचन्द्र भर्तृहरि के प्रचलित आख्यान में इनका नाम आने से इनकी प्रसिद्धि साधारण लोगों में भी अत्यन्त आदर के साथ है।

गोरक्षनाथ के गुरु हठयोग के आचार्य मत्स्येन्द्रनाथ माने जाते हैं। गोरक्षनाथ ने योगविद्या इन्हीं से सीखी थी और इन्हीं के श्रीमुख से भगवान् श्री आदिनाथ शिवजी के मुखारविन्द से प्रकट हुए योग-विषयक उपदेशों को एकत्र करके मुमुक्षुजनों के उपयोगार्थ उनमें से दो सौ श्रेष्ठ एवं हितकर श्लोकों को छाँट-कर सार रूप में प्रकट कर दिया।

यद्यपि भगवान् शंकर द्वारा कहे हुए श्लोक इतने अधिक थे कि जिनका याद रखना साधारण जिज्ञासुओं के लिए कठिन ही नहीं असंभव भी था और उनके याद न रहने से योग-साधन में कठिनाइयों का होना स्वाभाविक ही था। क्योंकि योग ऐसा विषय नहीं है जो केवल अनुमान के आधार पर ही कार्यरूप में परिणित किया जा सके अथवा सुनी-सुनाई याददाश्त पर निर्भर रह कर उसका साधन किया जा सके। इसलिए उसका प्रामाणिक रूप से लिपिबद्ध किया जाना आवश्यक था और सम्भवतः इसी आवश्यकता को अनुभव करके हमारे प्राचीन योगीन्द्रजनों ने इसमें निज अनुभव के आधार पर कुछ कमी-वेश भी की है।

हमारे उक्त कथन का प्रामाण इसी से मिलता है कि योग के अनेक ग्रन्थों में कहीं-कहीं श्लोकों में समानता दिखलाई देती है,

परन्तु यदि ध्यान से देखें तो उनमें कुछ परिवर्तन की झलक भी मिलती है, जिसके दो ही कारण हो सकते हैं—(१) स्मृति के आधार पर उनका संकलन होना, और (२) अनुभव के आधार पर जान-बूझकर उनके शब्दों और भावों में हेर-फेर कर देना।

अधिकांश योग ग्रन्थों में भगवान् आदिनाथ के उन्हीं उपदेशों का संकलन मिलता है जो उन्होंने पार्वतीजी के प्रति कहे थे। इन्हीं आदिनाथ से नाथ सम्प्रदाय का प्रारम्भ हुआ और मत्स्य देहधारी मत्स्येन्द्रनाथ उसे सुनकर ही परम सिद्ध एवं योगी हो गए।

मत्स्येन्द्रनाथ के पश्चात् उनके शिष्य गोरक्षनाथ भी योग के आचार्य हुए हैं, उन्होंने अपने गुरुदेव से प्राप्त असंख्य श्लोकों में से दो सौ श्लोकों का चयन कर अपने संकलन को 'गोरक्ष-संरिता' नाम से प्रकट कर दिया।

यह संहिता बहुत समय से प्राप्य नहीं है, इसलिए हमने इसे बहुत खोज के अनन्तर प्राप्त कर सुलभ हिन्दी भाषा में प्रस्तुत करने की चेष्टा की है। पाठकों को इसके अध्ययन में अधिक सुगमता और सुबोधता रहे, इस उद्देश्य से विस्तृत व्याख्या संयुक्त की है, जो कि जिज्ञासु पुरुषों के लिए अत्यन्त हितकर सिद्ध होगी। इसमें कविराज श्री दाऊदयाल गुप्त से जो सहयोग हमें मिला है, वह अवश्य ही प्रशंसनीय है।

हमें विश्वास है कि हमारे इस प्रयास से सभी प्रकार के पाठक लाभ उठायेंगे और इसी में हमारे प्रयत्न की सफलता होगी।

—प्रकाशक

विषय-सूची

प्रथम शतक

गुरु बन्दन	९
योग-ज्ञान का प्रारम्भ	११
संहिता-बोध का फल कथन	१२
मन का संयम	१३
श्रुति-सेवन का फल भवताप का शमन	१५
योग के छः अंगों का वर्णन	१६
आसनों का वर्णन	१७
सिद्धासन	१९
पद्मासन	२०
शरीर के उन्तीस ज्ञातव्य अवयव	२१
षट्चक्र वर्णन	२५
कामाख्या पीठ वर्णन	३०
विश्वतोमुख परमज्योति	३१
दस नाड़ी वर्णन	३३
विभिन्न नाड़ियाँ	३५
दस वायु	३६
प्राणापान का साधन आवश्यक	३९
हंस मंत्र एवं अजपा गायत्री	४३
शक्तिचालन	४५
शक्तिचालिनी मुद्रा	४९
योगी की चर्या कथन	५०

पंच मुद्रा कथन ५३
महामुद्रा ५४
महामुद्रा का फल कथन ५६
खेचरी मुद्रा ५८
खेचरी मुद्रा का फल ५८
खेचरी की पूजनीयता ५८
बिन्दु की स्वस्थान में पुनः स्थिरता ६१
बिन्दु-रज के ऐक्य से परमपद प्राप्ति ६२
सूर्य-चन्द्र का सम रसैकत्व ६२
उड्डीयान बन्ध ६४
उड्डीयान का स्थान ६४
जालन्धर बन्ध ६५
मूलबन्ध ६६
प्रणवाभ्यास ६८
वायु निरोधाभ्यास ७२
प्राणापान वायु रूप हंस ७४
नाड़ी शोधन प्राणायाम ७६
चन्द्रांग प्राणायाम का फल ७६
सूर्याङ्ग प्राणायाम ७७
नाड़ी शोधन का फल कथन ७९

द्वितीय शतक

प्राणायाम वर्णन ८१
द्वितीय नाड़ी शोधन प्राणायाम ८२
विविध प्राणायाम ८३
प्राणायाम विधि वर्णन ८५
कुम्भक प्राणायाम ८६

प्राणायाम का फल वर्णन	८६
समाधि का स्वरूप	८९
योगसिद्धि का चिह्न	९१
प्राणायाम से रोग-नाश	९१
प्रत्याहार वर्णन	९३
दिवस के तीन विभाग	९३
प्रिय-अप्रिय विषयों का प्रत्याहार	९३
हठयोग से प्रत्याहार	९८
विपरीतकरिणी मुद्रा	१००
अनाहत चक्र	१०२
काकी मुद्रा	१०४
विशुद्ध चक्र	१०५
सूर्यमुख वचन	१०६
चन्द्रामृत पान का फल	१०७
रसास्वादानुभव	११०
धारणा वर्णन	११२
पृथिवी की धारणा	११४
जल की धारणा	११५
अग्नि की धारणा	११६
वायु की धारणा	११७
आकाश की धारणा	११८
ध्यान-वर्णन	१२०
ध्यान से पाप निवारण	१२२
ध्यान से सामर्थ्य प्राप्ति	१२३
आत्मध्यान से अमरत्व प्राप्ति	१२५
ध्यान से कैवल्य मोक्ष	१२७
ध्यान से अष्टसिद्धि लाभ	१२८

कुण्डलिनी शिव-मिलन	१३०
ध्यानयोग की श्रेष्ठता	१३३
समाधि वर्णन	१३३
ध्यान और समाधि का भेद	१३५
समाधि विषयक दृष्टान्त	१३६
समाधि वस्तु ज्ञान का अभाव	१३८
योग से सायुज्य पद की प्राप्ति	१४२
योगशास्त्राध्ययन से साधक की कृतकृत्यता	१४६

—+—

※ ॐ ※

गोरक्ष-संहिता

प्रथम शतक (पूर्वार्द्ध)

गुरु-वन्दन

श्री गुरुं परमानन्दं वन्दे स्वानन्द विग्रहम् ।
यस्य सान्निध्यमात्रेण चिदानन्दायते तनुः ।।१

टीका—परमानन्द में रमण करने वाले उन श्रीगुरु की वन्दना करता हूँ जो स्वानन्द विग्रह स्वरूप हैं और जिनके सान्निध्य मात्र से यह शरीर चिदानन्द का स्थान बन जाता है ।।१

व्याख्या—ग्रन्थकार सर्व प्रथम गुरु की वन्दना करता है। क्योंकि सभी विद्याएँ गुरु के मुख से प्राप्त की जा सकती हैं और परब्रह्म विद्या के प्रवेश द्वार में अनुभवी गुरु के मार्ग-दर्शन से ही प्रवेश हो सकता है। गुरु वही हो सकता है जो वेद-वेदागों का ज्ञाता, ईश्वर भक्त, योगनिष्ठ, योगात्मा और पवित्र हृदय हो। अद्वयतारकोपनिषत् के अनुसार—

गुरुरेव परंब्रह्म गुरुरेव परागतिः ।
गुरुरेव पराविद्या गुरुरेव परायणम् ।।
गुरुरेव पराविद्या गुरुरेव परं धनम् ।
यस्मात्तदुपदेष्टाऽसौ तस्माद् गुरुतरो गुरुरिति ।।

अर्थात्–गुरु ही परब्रह्म है, गुरु ही परमगति है, गुरु ही पराविद्या है, वही परायण के योग्य है। वही पराकाष्ठा और परमधन है। वह उपदेष्टा होने के कारण श्रेष्ठ से भी श्रेष्ठ होता है।

ऋग्वेद में भी गुरु ही यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति होना स्वीकार किया है। 'उत्तिष्ठित जाग्रत् प्राप्यवरान् निरोधत' अर्थात् उठो, जागो और सद्गुरुओं के द्वारा ज्ञान प्राप्त करो। महाभारत में 'यादृशैः सन्निवसति यादृशांश्चोपसेवते' इत्यादि के अनुसार 'जो जिसके साथ निवास करता हुआ उसकी सेवा करता है तथा जो जैसा होना चाहता है, वैसा ही हो जाता है।' कहकर गुरु की ही प्रशस्ति की है।

यह आवश्यक नहीं कि गुरु और शिष्य सदा निकट ही रहें। वरन् उचित अध्यात्म विज्ञान के अनुरूप सम्बन्ध होने पर दूर रहकर भी शिष्य को गुरु का सामीप्य प्राप्त रहता है। आवश्यकता है गुरु में ऐसी क्षमता की कि वह शिष्य के अन्तःकरण तक अपनी प्रेरणा को पहुँचा सके। यही वह क्षमता है, जिसके द्वारा सद्गुरु अपने शिष्य का कल्याण करने में समर्थ होता है। दर्शन-ध्यानसंस्पर्शन मत्सी कर्मी च पक्षिणी' इत्यादि के अनुसार जैसे मछली, कछवी या चिड़िया अपने शिशुओं का दर्शन ध्यान एवं स्पर्श से पालन करती हैं, वैसे ही सज्जनों की संगति से शिष्य का पालन होता है।

गुरु वरण करने का अभिप्राय गुरु की आत्मा के साथ अपनी आत्मा को जोड़ देना है। जैसे किसी बृहद् सरोवर में किसी छोटे सरोवर को एक नाली के द्वारा जोड़ दें तो उस बड़े सरोवर में आने लगेगा और वह तभी सूखेगा, जब बड़ा सरोवर ही सूख जाय। शाट्यायनीयोपनिषत् के अनुसार—

यस्य देवे पराभक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ ।
स ब्रह्म वित्परं प्रेयादिति वेदानुशासनम् ॥

अर्थात्—देवताओं में जिसकी परम भक्ति होती है, वैसी ही भक्ति गुरु में होनी चाहिए । (इस प्रभार गुरुभक्त) ब्रह्मज्ञानी परमपद को प्राप्त होता है, यही वेद की व्यवस्था है ।

इसीलिए ब्रह्मविद्योपनिषत् में 'यो ददाति महाविद्या हंसाख्यां पावनीं पराम्' कहकर उपदेश दिया है कि 'जो इस हंस नामक पवित्र एवं परम महाविद्या को प्रदान करता है, उस गुरु की सेवा सदैव ज्ञान पूर्वक करे और फिर शुभ-अशुभ दे उसका पालन शिष्य को बिना विचारे ही संतोष भाव से करना चाहिए ।

इस प्रकार सद्गुरु ही सर्वज्ञाता और ब्रह्मज्ञान का प्रदाता होने के कारण सर्व प्रथम नमस्कार के योग्य होता है ।

योग ज्ञान का प्रारम्भ

नमस्कृत्य गुरुं भक्त्या गोरक्षोज्ञानमुत्तमम् ।
अभीष्टं योगिनां ब्रूते परमानन्दकारणम् ॥२

टीका—योगी गोरक्षनाथ अपने गुरु को भक्ति-सहित प्रणाम करके पूर्णयोग के मार्ग का बोधक ज्ञान (योगज्ञान) कहते हैं, जो कि योगियों के लिए परमानन्द प्रदान करने वाला है ॥२

व्याख्या—नाथ सम्प्रदाय का प्रारम्भ आचार्य आदिनाथजी के द्वारा हुआ बताते हैं । आदिनाथ को साक्षात् शिव का अवतार माना जाता है । एक समय आदिनाथ भगवान् शिव इस योग शास्त्र को पार्वतीजी को सुना रहे थे । उस ज्ञान को एक मत्स्य ने भी सुना और उसके प्रभाव से वही मत्स्य, मत्स्यनाथ होगये ।

उन मत्स्येन्द्रनाथ की कृपा से चौरंगिया नामक योगी परम-ज्ञानी एवं प्रसिद्ध हुए।

नाथ सम्प्रदाय में अनेक योगी योग की सिद्धि से सम्पन्न हुए जो कि योग के प्रभाव से अखण्ड ऐश्वर्य को प्राप्त होकर ब्रह्माण्ड में विचरण करते हैं। इनमें से गोरक्षनाथ भी योग-विद्या के आचार्य हुए। मुमुक्षुजनों के उपकारार्थ इस ग्रन्थ को प्रकट किया था।

भारतीय परम्परा के अनुसार ग्रन्थारम्भ से पूर्व अपने ज्ञान-दाता गुरु को नमस्कार निवेदन किया जाता है। उसका कारण यही है कि गुरु की कृपा से सर्वज्ञान की स्मृति बनी रह सकती है। और-लेखन में स्मृति का बने रहना अत्यन्त आवश्यक है। गुरु की कृपा न हो तो प्राप्त विद्या भी क्षीण हो जाती है इनके अनेक उदाहरण शास्त्रों में मिलते हैं। 'अध्यापिता ये गुरु नाद्रियन्ते' इत्यादि (शा. उ.) के अनुसार गुरु का जो सम्मान नहीं करता, उसकी तपस्या कच्चे घड़े में जल के समान समाप्त हो जाती है। इसीलिए गोरक्षनाथजी ने भक्ति सहित गुरुदेव को प्रणाम करके योगशास्त्र की रचना की है।

संहिता-बोध का फल कथन

गोरक्ष संहिता वक्ति योगिनां हितकाम्यया।
ध्रुवं यस्यादवबोधेन जायते परमं पदम् ॥३

टीका—योगियों का हित-साधन करने के उद्देश्य से गोरक्षनाथजी ने इस गोरक्ष संहिता को कहा है। इसका बोध होने पर योगी को परमपद की प्राप्ति होती है ॥३

व्याख्या—परमपद वह है जहाँ जाकर फिर कभी लौटना नहीं होता। जीव जन्म-मृत्यु के चक्र से छूट जाता है, उसका

पुनर्जन्म नहीं होता। ब्रह्मज्ञानी योगी के लिये संसार का बन्धन कुछ भी नहीं है, वह तो तृण के समान है। जब मनुष्य ईश्वर जीव और प्रकृति तीनों को ही ब्रह्मरूप समझ लेता है, तब उसके लिए कोई बन्धन शेष नहीं रहता। प्रकृति नाशवान् है, जबकि उसका भोक्ता अविनाशी है। केवल ब्रह्म ही उस नाशवान् प्रकृति और अविनाशी आत्मा को अपने अधीन रखते हैं। उन्हीं में अपने मन का योग करके निरन्तर चिन्तन करे तो साधक को 'तत्वभावात्' उन्हीं के भाव की प्राप्ति होती है। अर्थात् साधक ब्रह्मरूप ही हो जाता है। उसके लिए फिर कोई माया शेष नहीं रहती। यथा—

ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः क्षीणैः क्लेशैर्जन्ममृत्यु प्रहाणिः।
तस्याभिध्यानात्तृतीयं देहभेदे विश्वैश्वर्य केवल आप्तकामः॥

—नारद पा. उ. ६।११

अर्थात्—उन प्रकाशस्वरूप परमात्मा के ज्ञान से सर्व बन्धन नष्ट हो जाते हैं, क्योंकि क्लेशों के नष्ट होने पर जन्म-मरण का बन्धन शेष नहीं रहता। क्योंकि ब्रह्मज्ञानी पुरुष देह का नाश होने के पश्चात् तीसरे लोक में भी अनासक्त (वासना रहित) रहकर शुद्ध एवं पूर्णकाम रहता है।

इस प्रकार योग और उसके अङ्गों का ज्ञान होने पर अभ्यास से ब्रह्मज्ञान की प्राति होती है। गोरक्षनाथजी ने अज्ञानी पुरुषों को अज्ञानान्धकार रूपी कूप से निकालने के लिए ही इस योग शास्त्र रूप गोरक्ष संहिता की रचना की है।

मन का संयम

एतद्विमुक्तिसोपानमेंतत्कालस्य वंचनम्।
यद्व्यावृत्तं मनो भोगादासक्तं परमात्मनि ॥४

टीका—जब योगाभ्यास के द्वारा मन विषय भोगों से दूर होकर परमात्मा में लग जाता है, तब योगी काल और मृत्यु को विजय करके जरा-मरण को भी वश में कर लेता है। यह कर्म मोक्ष की सीढ़ी है और यही काल की वंचना भी है।४

व्याख्या—मन को विषय भोगों से दूर करने पर ही उसे ईश्वर की ओर लगाया जा सकता है। क्योंकि जो वासना और तृष्णा में जितना डूबा रहेगा, उतना ही उसका मन ईश्वर में कम लगेगा। इसीलिए सभी शास्त्रों के मन को सांसारिक आकर्षणों और प्रलोभनों से रोकने का निर्देश दिया गया है। यथा—

अभेददर्शनं ज्ञानं ध्यानं निर्विषयं मनः।
स्नानं मनोमलत्यागः शौचमिन्द्रिय निग्रहः ।।
मैत्रे० २।२

अर्थात्—जीव और ब्रह्म में भेद न देखना ही ज्ञान, मन को विषयों से दूर करना ध्यान, मन के मैल को त्यागना स्थान तथा इन्द्रियों को वश में रखना (विषय-भोगों को जीत लेना) ही पवित्रता है।

नारदपरिव्राज़कोपनिषत् में कहा है कि जिनके मनवाणी में पवित्रता है और जो सदा दोष-रहित हैं, वे मनुष्य ही वेदान्त का श्रवण करके उसका पूर्ण फल प्राप्त कर सकते हैं। क्योंकि 'मन एवं मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः' (शा. उ.) अर्थात् मन ही मनुष्यों के बन्धन मोक्ष का कारण है। जो मन विषयों में आसक्त होगा, वह बन्धन का और जो विषयों से विमुख होगा, वह मोक्ष का कारण होगा।

इस प्रकार ग्रन्थकार ने मन को विषयों से विमुख करने का उपदेश दिया है। साधक को विषयों से मन को हटा जरा-मरण

के बन्धन से छूटने का प्रयत्न करना चाहिए। यही परम श्रेष्ठ है।

श्रुति सेवन का फल भवताप का शमन

द्विज सेवतशाखस्य श्रुतिकल्पतरो फलम्।
शमनं भवतास्य योगं भजत सत्तमाः॥

टीका—हे श्रेष्ठ पुरुषो! मुनिजनों (द्विजों) द्वारा सेवित श्रुति रूपी कल्पवृक्ष की शाखा में लगे हुए श्रेष्ठ फलों का सेवन करो। क्योंकि यह फल योगी रूपी श्रेष्ठ पुरुषों द्वारा प्रयोग में लाये हुए और भव-सागर के क्लेशों का शमन करता है॥५

व्याख्या—सज्जनों और ज्ञानी पुरुषों के लिए वेद कल्पतरु के समान इच्छित फल प्रदान करने वाले हैं। सज्जनों और ज्ञानियों का इच्छित फल कोई विषय-वासना नहीं हो सकता वरन् ब्रह्मज्ञान ही हो सकता है 'अग्निर्जातो अथर्वणा विदद् विश्वानि काव्या (ऋक्० २०-२१-५) अनुसार वेद ईश्वरीय ज्ञान के भंडार हैं संसार में जितना भी ज्ञान विज्ञान, विद्या और कला दिखाई देती हैं, उन सभी का मूल वेदों में विद्यमान है। विद्वानों ने ऋग्वेद को ज्ञान, यजुर्वेद को कर्म, सामवेद को उपासना और अथर्ववेद को अध्यात्म का विवेचन माना है। परन्तु वेदों में ही यह घोषणा स्थान-स्थान पर मिलती है कि वेद चतुष्टय और उनके ज्ञान में भिन्नता नहीं है और उन सभी का लक्ष्य एक ही है।

तस्माद् यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद् यन्जस्तस्मादजायत॥

—ऋक् १०।९०।९

अर्थात्—ऋक्, यजु, साम, अथर्व चारों वेद एक ही ईश्वरीय ज्ञान से प्रादुर्भूत हुए हैं। उनमें किसी प्रकार का भेदभाव अथवा अन्तर मानना अनुचित और अनावश्यक है।

ज्ञान, कर्म, उपासना और अध्यात्म कों प्रकट करने वाले होने के कारण यदि वेदों को कल्पवृक्ष कहें तो इसमें किंचित भी अतिशयोक्ति नहीं है। परम योगियों, महर्षियों, देवर्षियों और राजर्षियों आदि सभी महापुरुषों ने वेद विद्या के अनुकूल आचरण करके जन्म-मरण रूपी क्लेशों से सदा के लिए छुटकारा पाया। इसलिए वेद की शिक्षा के अनुसार आचरण करना ही श्रेयस्कर है।

योग के छः अङ्गों का वर्णन

आसनं प्राण संरोधः प्रत्याहारश्च धारणा।
ध्यानं समाधिरेतानि योगांगांनि वदन्ति षट् ।।६

टीका—आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि, योग के ६ अङ्ग माने जाते हैं ।।६

व्याख्या—योग के उक्त छः अंग तो प्रसिद्ध हैं ही, परन्तु विद्वानों ने इन छहों के पूर्व दो अङ्ग और माने हैं, उनके सहित ही अष्टांग योग की पूर्ति होती है। योगतत्वोपनिषद् के अनुसार वे आठ अङ्ग निम्न प्रकार हैं—

यमश्च नियमश्चैव ह्यासनं प्राणसंयमः ।।
प्रत्याहारो धारणा च ध्यानं भ्रूमध्यमे हरिम् ।
समाधिः समताऽवस्था साष्टांगो योग उच्यते ।।

अर्थात्—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार,धारणा

भ्रकुटी के मध्य में हरि का ध्यान और समाधि यह सब मिल कर अष्टांग योग कहलाता है।

आसनानि न तावन्तो यावन्तो जीवजन्तवः ।
एतेषामखिलान् भेदान् विजानाति महेश्वरः ॥७

टीका—लोक में जितने भी जीव-जन्तु हैं, उनकी चेष्टा के अनुसार उतने ही आसन हैं। आसनों के इन सभी भेदों को शिवजी ही जानते हैं ॥७

व्याख्या—संसार में जीवों की चौरासी लाख योनियाँ बताई गई हैं, उनके विषय में शिवजी के अतिरिक्त अन्य कोई भी नहीं जान सकता। क्योंकि सम्पूर्ण सृष्टि ब्रह्मा रूप ब्रह्म से ही उत्पन्न हुई है और ब्रह्मा, विष्णु, शिव यह तीनों एक ही हैं। इनमें कोई भेद नहीं है। रुद्रहृदयोषनिषत् के अनुसार त्रिदेवों को इस प्रकार समझना चाहिए—

अन्तरात्मा भवेद्ब्रह्मा परमात्मा महेश्वरः ।
सर्वेषामेव भूतानां विष्णु रात्मा सनातनः ॥

अर्थात्—सब जीवों के अन्तरात्मा ब्रह्मा, परमात्मा शिव और विष्णु सनातन आत्मा हैं। इस प्रकार जीवों की सब योनियों के ज्ञाता शिवजी का बताना ठीक ही है, क्योंकि वे उन सभी के परमात्मा हैं।

आसनों का वर्णन

चतुर शीतिलक्षाणामेककं समुदाहृतम् ।
ततः शिवेन पीठानां षोडशेनं शतं कृतम् ॥

टीका—चौरासी लाख आसनों का भेद जानने में मनुष्य के सक्षम न होने के कारण शिवजी ने केवल चौरासी आसन बना दिये। यह चौरासी आसन ही चौरासी लाख आसनों के सार स्वरूप हैं ॥८

व्याख्या—प्राणियों की चौरासी लाख योनियाँ हैं। उन्हीं के आकार में आसनों की कल्पना की गई थी परन्तु वे सभी आसन अत्यन्त दुष्कर थे और सामान्य प्राणियों के लिए उनका अभ्यास सम्भव नहीं था। इसी कठिनाई को दृष्टिगत रखकर शिवजी ने उनमें से केवल चौरासी आसनों का चयन किया। वे आसन योग-पद्धति में अत्यन्त प्रसिद्ध हो गए। परन्तु उन चौरासी आसनों का अभ्यास भी सरल नहीं था, इसलिए उनमें से दो प्रमुख और सरल आसनों का चयन किया गया। यह दोनों आसन योगविदों में अत्यन्त प्रचलित हैं। नीचे के श्लोक में यह स्पष्ट किया गया है।

आसनेभ्यः समस्तेभ्यो द्वयमेदुदाहृतम् ।
एकं सिद्धासनं प्रोक्तं द्वितीयं कमलासनम् ॥९

टीका—उन चौरासी आसनों को भी अधिक समझ कर योग-धारण के इच्छुक पुरुषों के लिए दो आसन ही प्रमुख रूप से निश्चित कर दिये हैं। उनमें एक सिद्धान्त और दूसरा कमलासन कहलाता है ॥९

व्याख्या—उन चौरासी आसनों में से भी जो दो आसन प्रमुख रूप से छाँटे गए वे अधिक व्यावहारिक और सरल हैं। इन आसनों के सिद्ध होने पर सम्पूर्ण योग-क्रियाएँ सिद्ध हो जाती हैं। इन आसनों का अभ्यास करने से पहले वासनाओं का त्याग अत्यन्त आवश्यक है। 'धातुस्त्रीलौल्यकादीनि मृग-

तृष्णामयानि वै (यो० त० उ०) अर्थात् 'बुद्धिमान साधक को धातु (रुपया-पैसा) और स्त्री की लोलुपता को मृगतृष्णा समझकर विघ्नों के समान त्याग देना चाहिए।'

सिद्धासन

योनिस्थानकमंघ्रिमूल घटितं कृत्वा दृढं विन्यसे-
न्मेढ्रे पादमथैकमेव हृदये कृत्वा हनुं सुस्थिरम्।
स्थाणुः संयमितेन्द्रियो चलदृशा पश्येद् भ्रुवोरन्तरं
ह्येतन्मोक्षकपाटभेदजनकं सिद्धासनं प्रोच्यते ॥१०

टीका—उक्त दो आसनों में से पहले सिद्धासन की विधि बताते हैं। गुद और मेढ़ के मध्य में योनि (कुण्डलिनी) का स्थान है, उसे बाँए पाँव की एड़ी से दबाले और दाहिने पाँव की एड़ी को मेढ़ (उपस्थ) पर लगाकर दबाव डाले। इस अवस्था में दोनों पाँवों की एड़ियां नीचे ऊपर समान हो जाती हैं और दोनों पाँवों के अंगुष्ठ जंघा और गुल्फ के नीचे छिप जाते प्रतीत होते हैं। और इनका दबाव पड़ने से योनिस्थान के नीचे-ऊपर दो इन्द्रिय गुदा और मेढ़ रुकते हैं। फिर हृदय के चार अंगुल ऊपर चिबुक अर्थात् ठोड़ी को स्थिर करके चित्त को सब इन्द्रियों से हटाले और एकाग्र करले एवं दोनों दृगों की दृष्टि को निश्चल करके भृकुटि के मध्य में देखे। यह हृदय-कपाट को खोल मोक्ष-मार्ग का दर्शन कराता है। इसे सिद्धासन कहते हैं ॥१०

व्याख्या—शिवजी के बताये हुए सभी आसनों में सिद्धासन अधिक उपयोगी और लाभदायक है। 'पार्ष्णि वामस्य पादस्य योनिस्थाने नियोजयेत्' इत्यादि (योगतत्व उप०) के अनुसार

बाँए पाँव की एड़ी से योनिस्थान को दबाकर दाँये पाँव को फैलाये और दोनों हाथों से उसके अँगूठे को दृढ़ता से पकड़ ले। फिर ठोड़ी को हृदय से लगाकर वायु को भीतर भरे और यथा सम्भव कुम्भक करके रेचक द्वारा वायु को निकाल दे। इस अभ्यास को बाँये अंग से करने के बाद दाये अंग से करे अर्थात् फैलाये हुए पाँव को योनि स्थान पर लगावे। यह सिद्धासन के साथ महाबन्ध कहलाता है।

पद्मासन

वामोरूपरि दक्षिणं च चरणंसंस्थाप्य वामं तथा
दक्षोरूपरि पश्चिमेन विधिना धृत्वा कराभ्यां दृढम्।
अंगुष्ठौ हृदये निधाय चिबुकं नासाग्रमालोकयेदेत-
द्व्याधि विकार नाशन करं पद्मासनं प्रोच्यते ॥११

टीका—वाम ऊरु अथात् जानुमूल में ाँया पाँव उठा कर दाँये जानुमूल में बाँये पाँव को वैसे ही स्थापित करे और दाँये हाथ को पीठ के पीछे की ओर घुमा कर दाँया हाथ ऊपर लेजा कर बाँये पाँव के अँगूठे को पकड़े। फिर ठोड़ी को हृदय से लगा कर नासिका के अग्रभाग को दोनों नेत्रों से देखता रहे। यह पद्मासन सम्पूर्ण व्याधियों को दूर करने वाला है ॥११

व्याख्या—पद्मासन योगासनों में प्रमुख माना जाता है। कुछ विद्वानों ने तो एक-दो आसन ही अधिक उपयोगी माने हैं। यथा 'आसनं द्विविधं प्रोक्तं पद्मं वज्रासनं तथा' (यो. कु. उ.) अर्थात् 'आसनों में दो आसन ही मुख्य हैं—पद्मासन और वज्रासन।'

अब पद्मासन का प्रकार कहते हैं—

ऊर्वोरुपरि चेद्धत्ते उभे पादतले यथा ।
पद्मासनं भवेदेतत्सर्वपाप प्रणाशनम् ।।

—योग कु० उ० १।५

अर्थात्—दोनों जाँघों पर एक दूसरे पाँव के तलुओं को सीधा रखने से पद्मासन होता है । यह आसन सभी पापों का नाश करने वाला है ।

'उत्तानौ चरणों कृत्वा ऊरुसंस्थौ प्रयत्नतः इत्यादि (हठयोग प्रदीपिका) के अनुसार जानुमूल में पाँवों को लगाकर एड़ियों पर दोनों हाथ रखे । इसमें नीचे बाँया, ऊपर दाँया हाथ रखना चाहिए । फिर दाढ़ों के दोनों मूलों में जिह्वा को ऊपर स्थिर करे । ठोड़ी को चार अँगुल के अन्तर से हृदय पर लगा कर वायु को धीरे-धीरे उठावे, इसे मूलबन्ध कहते हैं । यह पद्मासन है, जिससे सम्पूर्ण रोग नष्ट होते हैं ।

शरीर के उन्तीस ज्ञातव्य अवयव

षट्चक्र षोडशाधारं द्विलक्ष्यं व्योमपंचकम् ।
स्वदेहे ये न जानन्ति कथं सिद्ध्यन्तियोगिनः ।।१२

टीका—छः चक्र, सोलह आधार, दो लक्ष्य और पाँच आकाश—यह चार भेद (सब मिल कर उन्नीस) होते हैं । यह अपने शरीर में होते हुए भी जब तक नहीं जाने जाते तब तक सिद्धि किस प्रकार हो सकती है ।।१२।।

व्याख्या—चक्र छः हैं—(१) मूलाधार, (२) स्वाधिष्ठान (३) मणिपूर, (४) अनाहत, (५) विशुद्धचक्र और (६) आज्ञा चक्र । आधार सोलह माने जाते हैं-(१) पदांगुष्ठ, (२) मूलाधार

(३) गुह्याधार, (४) वज्रगर्भनाड़ी, (५) उड्डीयानबन्धाधार, (६) नाभिमंडलाधार, (७) हृदयाधार, (८) कण्ठाधार, (९) कण्ठमूलाधार, (१०) जिह्वामूलाधार, (११) जिह्वाअधोभागाधार, (१२) ऊर्ध्वदन्तमूलाधार (१३) नासिकाग्राधार, (१४) नासिकामूलाधार, (१५) भ्रूमध्याधार और (१६) नेत्राधार। इनमें से पहले आधार पर स्थित दृष्टि कर-ज्योति को प्रकट करना चाहिए। इसके अभ्यास से दृष्टि का स्थैर्य सिद्ध होता है। दूसरे आधार को एड़ियों से अचेतन करे, इससे शरीरस्थ अग्नि की वृद्धि होती है। तीसरे के संकोच-विस्तार का अभ्यास करे। इससे घूमता हुआ अपान वायु चौथे आधार (वज्रनाड़ी) में घुसकर बिन्दुचक्र में जा पहुँचता है, इससे शुक्र स्तम्भन की सामर्थ्य प्राप्त होती है। पाँचवें आधार में पश्चिमोत्तान आसन द्वारा गुदा के संकोच का अभ्यास करने से मल-मूल व्यवस्थित होता और उदर-कृमि आदि नष्ट होते हैं। छठे आधार में प्रणव का जप और ज्योति का ध्यान करने से नाद उत्पन्न होता है। सातवें से प्राणवायु को भर कर रोकने से हृदयकमल-विकास होता है। चिबुक को दृढ़ता-पूर्वक हृदय पर लगाकर आठवें में ध्यान करने से चन्द्र-सूर्य नाड़ियों में बहता हुआ वायु स्थिर हो जाता है। नवें कण्ठमूल रूपी आधार में दो क्षुद्र घंटिकाएँ लटकती हैं वहाँ जिह्वा पहुँचाने से चन्द्र मण्डल से टपकते हुए सुधा-रस का स्वाद मिलता है। दसवें में खेचरी मुद्रा की विधि द्वारा जिह्वा के अग्रभाग से मंथन करने से खेचरो की सिद्धि होती है, ग्यारहवें में जिह्वा के अग्रभाग से मंथन करने पर कवित्वशक्ति प्राप्त होती है। बारहवें में जिह्वा का अग्रभाग स्थिर करने का अभ्यास करने से अनेक रोग नष्ट होते हैं। चौदहवें में दृष्टि स्थैर्य के अभ्यास से ज्योति-साक्षात् होता है। पन्द्रहवें में दृष्टि-

स्थैर्य का अभ्यास करने से सूर्याकाश में चित्त की लय-सिद्धि होती है तथा सोलहवें नेत्राधार मूल में अँगुली लगाने से इन्द्र-धनुष जैसे वर्ण की ज्योति देखने का अभ्यास होता है, जिससे ज्योति का साक्षात्कार होता है।

अब दो लक्ष्यों को बताते हैं—एक लक्ष्य बाह्य और दूसरा आभ्यन्तरिक है। इनसे बाह्य लक्ष्य नासिका और भौंहों का मध्य भाग आदि तथा भीतरी लक्ष्य मूलाधार, हृत्कमल आदि हैं।

आकाश पाँच माने जाते हैं—(१) श्वेतवर्ण ज्योति रूप आकाश, (२) रक्तवर्ण ज्योतिरूप प्रकाश, (३) धूम्रवर्ण ज्योति-रूप महाकाश, (४) नीलवर्ण ज्योतिरूप तत्वाकाश और (५) विद्युत्वर्ण ज्योतिरूप सूर्याकाश। इनमें पहले के भीतर दूसरा, दूसरे के भीतर तीसरा, तीसरे के भीतर चौथा और चौथे के भीतर पाँचवां रहता है।

इस प्रकार यह सब कुछ शरीर में ही स्थित है। मुमुक्षु साधक को इसका ज्ञान प्राप्त करना अत्यावश्यक है। जो इसे जानने की चेष्टा नहीं करते उन्हें योग की सिद्धि होना सम्भव नहीं है।

शारीरकोपनिषत् में छः चक्रों के अतिरिक्त प्रकृति के तेईस तत्व माने हैं, उनमें मन, बुद्धि, अहङ्कार और पञ्चभूतों को मिलाकर आठ विकार हुए तथा पन्द्रह और कहे हैं, यथा—

श्रोत्रं त्वक्चक्षुषी जिह्वा घ्राणं चैव तु पंचमम्।
पापपस्थौ करौ पादौ वाकैव दशमी मता॥
शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसोगन्धस्तथैव च।
त्रयोविंशतिरेतानि तत्वानि प्राकृतानितु।

अर्थात्—श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, जिह्वा, घ्राण—यह पाँच गुदा, उपस्थ, हाथ, पाँव, वाणी—यह पाँच और शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध—यह पाँच (सब मिला कर पन्द्रह और आठ विकार) यह कुल तेईस तत्व प्रकृति के हैं।

इन तेईसों के साथ छः चक्रों को जोड़ देने पर कुल उन्तीस हो गए। इस प्रकार अपने शरीर को न जान कर जो लोग योग-साधन में प्रवृत्त होते हैं, उन्हें कभी सफलता नहीं मिल सकती।

एकस्तम्भं नवद्वारं गृहं पंचाधिदैवतम्।
स्वदेहे ये न जानन्ति कथं सिद्ध्यन्तियोगिनः।१३

टीका—एक स्तम्भ, नौ द्वार और पाँच, अधिदेवताओं वाले शरीर को जो योगी नहीं जानते उन्हें योग-सिद्धि किस प्रकार हो सकती है?

व्याख्या—शरीर को घर मान कर ग्रन्थकार ने उसमें मन रूपी एक स्तम्भ (खम्भा) होना कहा है। यथार्थ में यह मन शरीर को स्थित रखता है। जब यह चंचल होकर इधर-उधर दोड़ने लगता है तब शरीर को उसी का अनुगामी होना होता है। इसीलिए मन को शरीर रूपी घर को टिकाये रखने में खम्भे के समान माना गया है। इसीलिए शास्त्रकारों ने मन एवं मनुष्याणां कारणं वन्धेमोक्षयोः' कह कर मन को ही बन्धन और मोक्ष का कारण सिद्ध किया है।

शरीर रूपी घर के नौ द्वार हैं—एक मुख, दो नेत्र, दो कान, दो नासिका, एक उपस्थ और एक गुदा। इन द्वारों के द्वारा ही श्वासोच्छ्वास, मलमूत्र, विसर्जन आदि कार्य होते हैं।

इसके पाँच अधिदेवता कहने से अभिप्राय यह है कि शरीर पंचभूतात्मक है। यह पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश तत्वों से निर्मित हुआ है। इन पाँचों के क्रमशः ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर और सदाशिव पाँच अधिदेवता हैं, इसलिए पंच-भौतिक शरीर के अधिदेवता भी यही पाँचों हुए। इस प्रकार यह सब कुछ शरीर में ही स्थित है, जो इसे जानने का प्रयत्न नहीं कर सकते उन्हें सिद्धि नहीं हो सकती।

षट्चक्र वर्णन

अतुर्दलं स्यादाधारं स्वाधिष्ठानं च षट्दलम्।
नाभौ दशदलं पद्मं सूर्यसंख्यादलं हृदि ।।१४
कण्ठे स्यात् षोडशदलं भ्रूमध्ये द्विदलं तथा।
सहस्रदलमाख्यातं ब्रह्मरन्ध्रे महापथे ।।१५

टीका—मूलाधार चक्र चार दल का, स्वाधिष्ठान चक्र छः दल का, नाभि में मणिपूर चक्र दस दल का, हृदय में अनाहत चक्र बारह दल का, कण्ठ में विशुद्ध चक्र सोलह दल का और भौंहों के मध्य आज्ञा चक्र दो दलों का होता है। इससे ऊपर सहस्र दल का कमल ब्रह्मरन्ध्र के महामार्ग में अवस्थित है ।।१४-१५

व्याख्या—मनुष्य शरीर में छः चक्र हैं, इन सबकी आकृति भिन्न-भिन्न है। यह एक प्रकार की सूक्ष्म ग्रन्थियाँ हैं। उनका स्वरूप कमल-पुष्पों की पंखुड़ियों के समान होता है, इसीलिए उन पंखुड़ियों को दल कहा जाता है। यह इतने सूक्ष्म होते हैं कि किसी भी शक्तिशाली दूरवीक्षण यन्त्र से भी दिखाई नहीं देते। योगकुण्डल्युपनिषत् के अनुसार—

आधारं गुदमित्युक्तं स्वाधिष्ठानं तु लैंगिकम् ।
मणिपूरं नाभिदेशं हृदयस्थमनाहतम् ।
विशुद्धिः कण्ठमूले च आज्ञाचक्रं च मस्तकम् ॥

अर्थात्—मूलाधार गुदा में, स्वाधिष्ठान लिंग के निकट नाभि में मणिपूर, हृदय में अनाहत, कण्ठ में विशुद्ध चक्र और मस्तक में आज्ञाचक्र होता है।

सभी चक्रों के दलों की संख्या में भिन्नता होने का कारण सुषुम्ना नाड़ी में प्राणवायु का तीव्र गति से चलना और वहाँ सूक्ष्म भँवर बनना है। यह आकृतियाँ चक्रों की यन्त्र कही जाती हैं। सुषुम्ना नाड़ी में बहने वाले प्राण-प्रवाह की टेढ़ी-मेढ़ी गति की आकृति अक्षरों जैसी होने के कारण वह वायु मार्ग चक्रों के अक्षरों से परिपूर्ण माना जाता है।

शरीर का बाहरी वर्ण यद्यपि सर्वत्र समान होता है, परन्तु इन चक्रों के वर्ण में भी भिन्नता होती है। इसका कारण उन-उन चक्रों में भिन्न-भिन्न तत्वों की प्रधानता का होना है जिससे कि रक्त में स्थानीय परिवर्तन हो जाता है। जैसे कि अग्नितत्व के संयोग से रक्त का वर्ण नीला, वायु तत्व के संयोग से लाल, पृथिवी तत्व के संयोग से गुलाबी और आकाश तत्व के योग से धूम्र के समान होता है।

सुषुम्ना नाड़ी में प्राण-वायु के प्रवाह का टकराव जब चक्रों के सूक्ष्म छिद्रों से होता है तब उनमें से य रं, लं, हं, ऊँ के स्वरों के समान ध्वनियाँ निकलती हैं। यह ध्वनियाँ चक्रों की बीज कहलाती हैं। पंचतत्वों के गुणों में विभिन्नता होने के कारण चक्रों के गुणों में भी विभिन्नता होना स्वाभाविक है। प्रत्येक चक्र अपना पृथक् वाहन भी माना गया है। वह वाहन प्राणवायु की गति का पर्याय ही समझना चाहिए।

साधक के लिए इन चक्रों की विस्तृत जानकारी होना अत्यन्त आवश्यक है। इसीलिए यहां इनका पूर्ण विरण दिया जाता है—

मूलाधार चक्र—गुदा द्वार में पीत वर्ण का अधोमुखी बन्द कमल है। उसके चार दल हैं, जिनमें वं, शं, षं, सं बीज सुशोभित हैं। इसका तत्व पृथिवी और तत्व बीज 'लं' है। वहाँ श्वेत ऐरावत पर इन्द्रदेव विराजमान हैं। चक्र के अधिपति चतुर्मुख और चतुर्भुज ब्रह्मा हैं। ब्रह्मा के अंक में 'डाकिनी' शक्ति केन्द्रित है। इसका यन्त्र चतुष्कोण, ज्ञानेन्द्रिय नासिका और कर्मेन्द्रिय गुह्य प्रदेश है। जब कुण्डलिनी जाग्रत होती है, तब इसका मुख नीचे से ऊपर की ओर हो जाता है। इस चक्र के वेधन से काव्य, साहित्य और शास्त्रज्ञान की प्रतिभा गतिशील हो जाती है।

स्वाधिष्ठान चक्र—उपस्थ-मूल में रक्त वर्ण का ऊर्ध्वमुखी कमल है। इसके छः दल हैं, जिसमें बं, भं, मं, यं, रं, लं, बीज सुशोभित हैं। इसका तत्व वरुण अर्थात् जल तथा तत्व की बीज 'व' है, जिससे पार्श्व में चक्र के अधिदेव चतुर्भुज विष्णु हैं। उनके अंग में 'शाकिनी' शक्ति केन्द्रित है। शुक्ल वर्ण में अर्द्ध चन्द्राकार जल मण्डल होने के कारण इसका मन्त्र भी चन्द्राकार है तथा वाहन मगर है। इसका भेदन होने पर अहंकारादि विकार मिट जाते हैं।

मणिपूर चक्र—नाभि-मूल में नील वर्ण का ऊर्ध्वमुखी कमल है। उसके दस दल हैं, जिनमें डं, ढं, णं, तं, थं, दं, धं, नं, फं बीज सुशोभित हैं। इसकी मध्य कर्णिका में स्वस्तिक के आकार का तेजो मण्डल है, जिसके मध्य में सूर्य के समान तेज धारण किये हुए रं बीज है। इसके पार्श्व में चक्र के अधिपति रुद्र

विराजमान हैं, जिनका वर्ण सिन्दूर के समान है, वे देह पर भस्म रमाये हुए वृद्ध जैसे प्रतीत होते हैं। उनके अंग में जो 'लाकिनी' शक्ति बैठी हैं, वह श्याम वर्ण की है। इस त्रिकोणाकार यन्त्र का भेदन होने पर सरस्वती वरदायिनी होती है और साधक निर्माण, पालन और संहार में समर्थ है।

अनाहत चक्र हृदय में धूम्रवर्ण का ऊर्ध्वमुखी कमल है। उसके बारह दल है जिनमें कं, खं, गं, घं, ङं, चं, छं, जं, झं, ञं, टं, ठं बीज सुशोभित हैं। इसकी मध्य कर्णिका में, धूम्र वर्ण का चतुर्भुज कृष्णमृग वाहन रूप 'यं' बीज है, जो कि अपने षट्कोण वायु मण्डल रूप तत्व के मध्य में स्थित है। इस चक्र के अधिपति ईश्वर हैं जिनके अंक में 'काकिनी' शक्ति विराजमान रहती हैं। कर्णिका के त्रिकोण में स्वर्ण जैसे वर्ण का बाण लिंग है, जिसे पूर्णगिरि पीठ कहते हैं। इस चक्र में अनाहत नाद की ध्वनि स्वतः होती रहती है। यह चक्र प्रणव रूपी ब्रह्म का स्थान है। इसकी सिद्धि से परकाय-प्रवेश की शक्ति प्राप्त होती है। इससे सकाम साधक को भौतिक उपलब्धियाँ और निष्काम साधक को योग सिद्धि प्राप्त होती है।

विशुद्ध चक्र कण्ठ में रक्त वर्ण का ऊर्ध्वमुखी कमल है। उसके सोलह दल हैं, जिनमें अं, आं, इं, ईं, उं, ऊं, ऋं, ॠं, लृं, लॄं, एं, ऐं, ओं, औं, अं, अः बीज सुशोभित हैं। इसकी स्फटिक वर्ण की कर्णिका में वर्तुलाकार व्योम मण्डल है, जिसके मध्य में स्थित निष्कलंक, पूर्ण चन्द्रमा में वाहनरूप श्वेत हाथी, पाश, अभय, वर और अंकुश धारण किये हुए, आकाश बीज 'हं' है। इसके पार्श्व में जालंधर पीठ है, जहाँ सदाशिव विराजमान है, उनके अङ्क में शाकिनी शक्ति स्थित है। इस चक्र की सिद्धि होने पर साधक के मन को अत्यन्त शान्ति, आनन्द और ज्ञान की उपलब्धि तथा रोग-सान्निध्य की प्राप्ति होती है।

आज्ञा चक्र—भौंहों के मध्य में श्वेत वर्ण का ऊर्ध्वमुखी कमल है। उसके दो दल हैं। जिनमें हं, क्षं बीज शोभित हैं। इसका तत्व महः है, जिसका बीज प्रणव है। इसकी कर्णिका में शिव विराजमान हैं, जो कि अपनी गोद में 'हाकिनी' शक्ति लिये हुए हैं। कर्णिका के त्रिकोण में इतरलिंग नामक जो शिव-लिंग है, वह मन का स्थान माना जाता है। इस चक्र के ध्यान को महत्व दिया जाता है। इसके साधक को सब प्रकार की सामर्थ्य प्राप्त होती है। इस चक्र का भेदन होने पर कुण्डलिनी शक्ति जिस सहस्रार कमल में परम शिव से एक्य स्थापित करती है, उसका वर्णन नीचे दिया जाता है—

सहस्रार कमल—ब्रह्मरन्ध्र में श्वेत वर्ण का पूर्णचन्द्र के समान मुख वाला एक हजार दल का है। यह हं, लं, क्षं, रूप इन तीन वर्णों में सुशोभित है। इनकी त्रिकोण कर्णिका में पूर्णचन्द्र मण्डल है, जिसके मध्य में विद्युत के समान तेजोमय ज्योति में परमशिव विराजमान हैं, जिनके पार्श्व में सहस्र सूर्यों के तेज के समान ज्योति वाली अर्द्ध चन्द्र के आकार में निर्वाण कला स्थित है। उसके भी मध्य में करोड़ों सूर्यों के समान परम तेजोमयी निर्वाण शक्ति प्रतिष्ठित है। इसी के मध्य में चिदानन्द स्वरूप परम शिवपद है जो कि मन, वाणी से नहीं, वरन् योगसाधन से ही अनुभव में आ सकता है।

सहस्रार में ही शिव-शक्ति का मिलन होता है। इसके विषय में योगकुण्डल्युपनिषत् का निम्न उद्धरण ध्यान देने योग्य है—

ज्वलनाघातपवना घातोरुन्निद्रितोऽहिराट् ।
ब्रह्मग्रन्थि ततो भित्त्वा विष्णु ग्रन्थि भिनत्यतः ॥

रुद्रग्रन्थि च भित्त्वैव कमलानि भिनत्ति षट् ।
सहस्रकमले शक्तिः शिवेन सह मोदते ।
सैवावस्था पराज्ञेया सवा निर्वृतिकारणा ॥

विराजमान हैं, जिनका वर्ण सिन्दूर के समान है, वे देह पर भस्म रमाये हुए वृद्ध जैसे प्रतीत होते हैं। उनके अंग में जो 'लाकिनी' शक्ति बैठी हैं, वह श्याम वर्ण की है। इस त्रिकोणाकार यन्त्र का भेदन होने पर सरस्वती वरदायिनी होती है और साधक निर्माण, पालन और संहार में समर्थ है।

अनाहत चक्र हृदय में धूम्रवर्ण का ऊर्ध्वमुखी कमल है। उसके बारह दल है जिनमें कं, खं, गं, घं, ङं, चं, छं, जं, झं, ञं, टं, ठं बीज सुशोभित हैं। इसकी मध्य कर्णिका में, धूम्र वर्ण का चतुर्भुज कृष्णमृग वाहन रूप 'यं' बीज है, जो कि अपने षट्कोण वायु मण्डल रूप तत्व के मध्य में स्थित है। इस चक्र के अधिपति ईश्वर हैं जिनके अंक में 'काकिनी' शक्ति विराजमान रहती हैं। कर्णिका के त्रिकोण में स्वर्ण जैसे वर्ण का बाण लिंग है, जिसे पूर्णगिरि पीठ कहते हैं। इस चक्र में अनाहत नाद की ध्वनि स्वतः होती रहती है। यह चक्र प्रणव रूपी ब्रह्म का स्थान है। इसकी सिद्धि से परकाय-प्रवेश की शक्ति प्राप्त होती है। इससे सकाम साधक को भौतिक उपलब्धियाँ और निष्काम साधक को योग सिद्धि प्राप्त होती है।

विशुद्ध चक्र कण्ठ में रक्त वर्ण का ऊर्ध्वमुखी कमल है। उसके सोलह दल हैं, जिनमें अं, आं, इं, ईं, उं, ऊं, ऋं, ॠं, ऌं, ॡं, एं, ऐं, ओं, औं, अं, अः बीज सुशोभित हैं। इसकी स्फटिक वर्ण की कर्णिका में वर्तुलाकार व्योम मण्डल है, जिसके मध्य में स्थित निष्कलंक, पूर्ण चन्द्रमा में वाहनरूप श्वेत हाथी, पाश, अभय, वर और अंकुश धारण किये हुए, आकाश बीज 'हं' हैं। इसके पार्श्व में जालंधर पीठ है, जहाँ सदाशिव विराजमान है, उनके अङ्क में शाकिनी शक्ति स्थित है। इस चक्र की सिद्धि होने पर साधक के मन को अत्यन्य शान्ति, आनन्द और ज्ञान की उपलब्धि तथा रोग-साहित्य की प्राप्ति होती है।

आज्ञा चक्र—भौंहों के मध्य में श्वेत वर्ण का ऊर्ध्वमुखी कमल है। उसके दो दल हैं। जिनमें हं, क्षं बीज शोभित हैं। इसका तत्व महः है, जिसका बीज प्रणव है। इसकी कर्णिका में शिव विराजमान हैं, जो कि अपनी गोद में 'हाकिनी' शक्ति लिये हुए हैं। कर्णिका के त्रिकोण में इतरलिंग नामक जो शिव-लिंग है, वह मन का स्थान माना जाता है। इस चक्र के ध्यान को महत्व दिया जाता है। इसके साधक को सब प्रकार की सामर्थ्य प्राप्त होती है। इस चक्र का भेदन होने पर कुण्डलिनी शक्ति जिस सहस्रार कमल में परम शिव से एक्य स्थापित करती है, उसका वर्णन नीचे दिया जाता है—

सहस्रार कमल—ब्रह्मरन्ध्र में श्वेत वर्ण का पूर्णचन्द्र के समान मुख वाला एक हजार दल का है। यह हं, लं, क्षं, रूप इन तीन वर्णों में सुशोभित है। इनकी त्रिकोण कर्णिका में पूर्णचन्द्र मण्डल है, जिसके मध्य में विद्युत के समान तेजोमय ज्योति में परमशिव विराजमान हैं, जिनके पार्श्व में सहस्र सूर्यों के तेज के समान ज्योति वाली अर्द्ध चन्द्र के आकार में निर्वाण कला स्थित है। उसके भी मध्य में करोड़ों सूर्यों के समान परम तेजोमयी निर्वाण शक्ति प्रतिष्ठित है। इसी के मध्य में चिदानन्द स्वरूप परम शिवपद है जो कि मन, वाणी से नहीं, वरन् योगसाधन से ही अनुभव में आ सकता है।

सहस्रार में ही शिव-शक्ति का मिलन होता है। इसके विषय में योगकुण्डल्युपनिषत् का निम्न उद्धरण ध्यान देने योग्य है—

ज्वलनाघातपवना घातोरुन्निद्रितोऽहिराट्।
ब्रह्मग्रन्थि ततो भित्त्वा विष्णु ग्रन्थि भिनत्यतः॥
रुद्रग्रन्थि च भित्त्वैव कमलानि भिनत्ति षट्।
सहस्रकमले शक्तिः शिवेन सह मोदते।
सैवावस्था पराज्ञेया सवा निर्वृतिकारणा॥

अर्थात्—अग्नि और वायु के आघात से सुप्त कुण्डलिनी जाग्रत होती है, तब वह ब्रह्मग्रन्थि, विष्णुग्रन्थि, रुद्रग्रन्थि एवं षट्चक्रों का भेदन करती हुई सहस्रार में पहुँचती है और वहाँ शक्ति रूप में शिव से एकाकार होकर आनन्द को प्राप्त होती है। यही जानने योग्य श्रेष्ठ, मोक्षदायक अवस्था है।

हठयोग प्रदीपिका में भी इसकी पुष्टि हुई है, यथा—

येन मार्गेण गन्तव्यं ब्रह्मस्थानं निरामयम्।
सुखेनाच्छाद्य तद्द्वारं प्रसुप्ता परमेश्वरी ॥

अर्थात्—'साधक जिस मार्ग से सहस्रार में निरामय ब्रह्म स्थान में जाकर ब्रह्म से साक्षात्कार करता है, वह परमेश्वरी प्रसुप्तावस्था में उसी द्वार को रोके हुए पड़ी है।'

कामाख्यापीठ वर्णन

आधारं प्रथमं चक्रं स्वाधिष्ठानं द्वितीयकम्।
योनिस्थानं द्वयोर्मध्ये कामरूपं निगद्यते ॥१६
आधाराख्ये गुदस्थाने पंकजं च चतुर्दलम्।
तन्मध्ये प्रोच्यते योनिः कामाख्या सिद्धवंदिता॥१७

टीका—प्रथम मूलाधार और दूसरे स्वाधिष्ठान इन दोनों चक्रों के मध्य में जो योनिस्थान है, वही कामरूप पीठ है। मूलाधार संज्ञक जो चतुर्दल कमल गुदा में है, उसी के मध्य में त्रिकोणाकार योनि है, वह कामाख्या पीठ कहलाती है। सिद्ध-जन उसकी सदा वन्दना करते हैं ॥१६-१७

व्याख्या—मूलाधार और स्वाधिष्ठान चक्रों के मध्य में ही मूलाधार की कर्णिका है, उसी में कामरूप पीठ की स्थिति मानते हैं, उसी को कामाख्या पीठ कहते हैं। योगचूड़ामण्युपनिषत् के

'आधारं प्रथमं चक्रं स्वाधिष्ठानं द्वितीयकम्' से भी इसी की यथावत् पुष्टि होती है—

अर्थात्—ब्रह्मरन्ध्र के महापथ में सहस्र दल का कमल है। प्रथम चक्र आधार और दूसरा स्वाधिष्ठान है। इन दोनों के मध्य में जो योनिस्थान है उसे कामरूप कहते हैं। गुदास्थान में 'काम' नामक चार दल का पद्म है, उसके मध्य सिद्धों द्वारा वन्दिता 'कामाख्या' योनि है।

विश्वतोमुख परमज्योति

योनिमध्ये महालिंगं पश्चिमाभिमुखस्थितम्।
मस्तके मणिवद्बिम्बं यो जानाति स योगवित्।।१८
तप्तचामीकराभासं तडिल्लेखेव विस्फुरत्।
त्रिकोणं तत्पुरं वह्लेरधोमेढ्रात्प्रतिष्ठितम्।।१९
यत्समाधौ परंज्योतिरनन्तं विश्वतोमुखम्।
तस्मिन्दृष्ठे महायोगे यातायातन्नविन्दते।।२०

टीका—उस योनि के मध्य में पश्चिमाभिमुखी महालिंग स्थित है उसके मस्तक में मणि के समान दमकता हुआ जो विम्ब है, उसे भले प्रकार जानने वाला ही योगवेत्ता है। लिंग स्थान से नीचे मूलाधार कणिका में जो तप्त स्वर्ण जैसे वर्ण का और विद्युत्-रेखा के समान ज्योतिर्मान त्रिकोण हैं, वह कालाग्नि का स्थान है इसी त्रिकोण विषयक समाधि में अनन्त विश्वतो-मुख कालाग्नि रूपी परम ज्योति है, जो साधक उसे देख लेता है, उसका आवागमन नहीं होता।।१८-२०

व्याख्या—योनि स्थान में स्थित उस महालिंग के मस्तक में कुण्डलिनी शक्ति रूपी शरीरधार मोक्ष का द्वार है। योगी के लिए उसका जानना आवश्यक है। क्योंकि वह जब तक उसे नहीं जान लेता तब तक उसे कालाग्नि रूपी परमज्योति के दर्शन और मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती।

योगचूड़ामण्युपनिषत् में भी बिल्कुल ऐसा ही विवरण मिलता है। उक्त श्लोकों में और उनमें कहीं-कहीं कुछ अक्षरों का ही अन्तर है। इससे यह अनुमान होता है कि उक्त पंक्तियाँ उसी उपनिषत् में से कुछ हेर-फेर करके ग्रहण करली गई हैं।

स्वशब्देन भवेत्प्राणः स्वाधिष्ठानं तदाश्रयः।
स्वाधिष्ठानाश्रयादस्मान्मेढ्रमेवाभिधीयते ॥२१
तन्तुना मणिवत्प्रोतो यत्र कन्दः सुषुम्णया।
तन्नाभिमण्डलं चक्रं प्रोच्यते मणिपूरकम् ॥२२
द्वादशारे महाचक्रे पुण्यपाप विवर्जिते।
तावज्जीवो भ्रमत्येवं यावत्तत्वं न विन्दति ॥२३

टीका—'स्व' शब्द से प्राण का बोध होता है, उसका आश्रय होने से ही इसे मेढ़्र भी कहते हैं। यही धागे में पिरोये हुए मणि के समान सुषुम्ना नाड़ी का केन्द्र है। वहां नाभि-मण्डल में स्थित चक्र मणिपूपक कहा जाता है तथा बारह दल वाले और पाप-पुण्य से रहित चक्र में जीव तब तक संसार में भ्रमता रहता है, जब तक कि इसका ज्ञान प्राप्त नहीं कर लेता ॥२१-२३

व्याख्या—स्वाधिष्ठान के आश्रय में प्राण का निवास होने के कारण वह मेढ़्र भी कहलाता है। नाभि में एक कन्द है, जिसमें से समूचे शरीर को व्याप्त करने वाली शिराएँ निकली

हैं। उनमें से दश दिशाएँ ऊपर को हैं, जिनका कार्य शब्द, रस, गन्ध, श्वास, जँभाई लेना, भूख प्यास, डकार, नेत्रदृष्टि और धारणशक्ति को प्रदीप्त करना है। नीचे की ओर जो दश शिराएँ हैं, उनका कार्य वायु, मल, मूत्र, वीर्य, अन्न, पान, रस आदि को अधोगामी करना है। यही शिराएँ शरीर के रोमों से पसीना निकालती हैं और इन्हीं के द्वारा शरीर पर मले हुए प्रलेप या तेल आदि शरीर में प्रविष्ट होते हैं। यह नाभि कन्द सुषुम्ना नाड़ी में पिरोया हुआ है, इसी को मणिपूर चक्र कहते हैं।

द्वादश दल का अनाहत चक्र है, इसके विषय में पूर्ण प्रकाश डाल चुके हैं। उसमें तीनों गुणों से रहित जीव रहता है। यह चक्र पाप-पुण्य से भी परे है। इसे जान लेने पर मनुष्य भव-बन्धन से मुक्त हो जाता है।

दसनाड़ी वर्णन

ऊर्ध्वं मेढ्रदधोनाभेः कन्दो योनिः खगाण्डवत् ।
तत्र नाड्यः समुत्पन्नाः सहस्राणां द्विसप्ततिः ॥२४
तेषु नाडीसहस्रेषु द्विसप्तति रुदाहृताः ।
प्रधानाः प्राणवाहिन्यो भूयस्तासु दश स्मृताः ॥२५
इडा च पिंगला चैव सुषुम्णा च तृतीयका ।
गान्धारी हस्तिजिह्वा च पूषा चैव यशस्विनी॥२६
अलम्बुषा कुहूश्चैव शंखिनी दशमी स्मृता ।
एतन्नाडीमयं चक्रं ज्ञातव्यं योगिभिः सदा ॥२७

टीका—मेढ़ से ऊपर और नाभि से नीचे कन्द के समान सभी नाड़ियों का उत्पत्ति स्थान पक्षी के अंडे जैसी आकृति का है। इसमें से बहत्तर हजार नाड़ियाँ निकल कर पूरे शरीर में गई हैं। उन सबमें बहत्तर नाड़ी ही प्रधान हैं। उनमें जो भी प्राणवाहिनी दस नाड़ियां हैं, वे ही अधिक मुख्य हैं। वे दस नाड़ी हैं—इडा, पिंगला, सुषुम्ना गान्धारी, हस्त जिह्वा, पूषा, यशस्विनी, अलम्बुषा, कुहू और शंखिनी। योगियों को इन नाड़ियों से युक्त चक्र को अवश्य जानना चाहिए ।।२४-२७

व्याख्या—नाभि के नीचे नाड़ियों का मूल स्थान है, उसमें से बहत्तर हजार नाड़ियाँ निकली हैं, उनमें प्रमुख बहत्तर ही हैं और उन बहत्तरों में से भी दस को प्रधान माना गया है। अनेक उपनिषदों और अन्यान्य शास्त्रों ने नाड़ियों की बहत्तर हजार संख्या ही मानी है, यथा—

सुषुम्ना तु परे लीना विरजा ब्रह्मरूपिणी।
इडा तिष्ठति वामेन पिंगलादक्षिणेन तु ।।
तयोर्मध्ये परंस्थानं यस्तं वेद स वेदवित्।
द्वासप्तति सहस्राणि प्रतिनाडीषु तैतिलम् ।।

—क्षुरिकोपनिषत् १६-१७

अर्थात्—सुषुम्ना परातत्व में लीन है, बिरजा ब्रह्मस्वरूप है, इडा बाँयी ओर और पिंगला दाँयी ओर रहती है। इन दोनों नाड़ियों के मध्य में जो परम स्थान है, उसे जो जानता है, वही वेद को जानने वाला है। सर्व सूक्ष्म नाड़ियों की संख्या बहत्तर है, जिन्हें तैतिल कहते हैं।

सुबालोपनिषत् में 'अथेमा दश-दश नाड्यों भवन्ति तासामेकै कस्यों द्वासप्ततिर्द्वासप्ततिः शाखानाडीसहस्राणि भवन्ति यस्मन्नय-

मात्मा स्वपिति शब्दानां च करोति' कह कर स्पष्ट किया है 'इस हृदय की दस-दस नाड़ियाँ हैं, उनमें से प्रत्येक की बहत्तर बहत्तर शाखाएँ हैं। इस प्रकार हजारों नाड़ियाँ होती हैं, जिनमें आत्मा सोता और शब्दों की क्रिया करता है।

विभिन्न नाड़ियाँ

इडा वामे स्थिता भागे पिङ्गला दक्षिणे स्थिता।
सुषुम्णा मध्यदेशे तु गान्धारी वामचक्षुषि ॥२८
दक्षिणे हस्तिजिह्वा च पूषा कर्णे च दक्षिणे।
यशस्विनी वामकर्णे ह्यानने चाप्यलम्बुषा ॥२९

कुहूश्च लिंगदेशे तु मूलस्थाने च शंखिनी।
एवं द्वारं समाश्रित्य तिष्ठन्ति दस नाड्यः ॥३०
इडापिंगलासुषुम्णाः प्राणमार्गे समाश्रिताः।
सततं प्राणवाहिन्यः सोमसूर्याग्निदेवताः ॥३१

टीका—नासिका के बांये भाग में इडा, दाँये भाग में पिंगला और इन दोनों के मध्य में सुषुम्ना स्थित है। बाँये नेत्र में हस्तिजिह्वा, दाँये कान में पूषा और बांये कान में यशस्विनी रहती है। अलम्बुषा का स्थान मुख में है। लिंगदेश में कुहू और मूल स्थान में शंखिनी है। इस प्रकार यह दस नाड़ियाँ प्राणवायु के द्वार में आश्रय करके स्थित हैं। इडा, पिंगला और सुषुम्ना इन तीनों प्राणवाहिनी नाड़ियों के देवता क्रमशः चन्द्र सूर्य और अग्नि है ॥२८-३१.

व्याख्या—महायोगी गोरक्षनाथ ने यहाँ दस प्रमुख नाड़ियों के स्थान बताये हैं। इनमें से इडा, पिंगला, सुषुम्ना तीनों की

मूल मूलाधार चक्र की कर्णिका के त्रिकोण में है। उस त्रिकोण में युक्त वाँये कोण से इडा की, दाँये कोण से पिंगला की और पश्चिम कोण से सुषुम्ना की उत्पत्ति मानी जाती है। यह तीनों नाड़ी अपने-अपने नासिका छिद्रों में प्रवाहिता रहती हैं। बीच की नाड़ी (सुषुम्ना) ब्रह्मरन्ध्र तक गई हैं। अन्य नाड़ियाँ मला-धार चक्र के कन्द से चल कर प्रत्येक रन्ध्र में गई हैं।

उक्त कन्द से नीचे की ओर कुहू और शंखिनी अधोमुखी होकर गई हैं। ग्रन्थकार ने दसों नाड़ियों का प्राणवायु के मार्ग में स्थित होना कहा है। इडा, पिंगला और सुषुम्ना के देवता चन्द्र, सूर्य और अग्नि को माना है, इसीलिए इडा को चन्द्र नाड़ी और पिंगला को सूर्य नाड़ी भी कहते हैं। उक्त तीन नाड़ियाँ ही प्राणायाम में कार्य-रत रहती हैं। इनमें सुषुम्ना नाड़ी कुण्डलिनी शक्ति के निकट रहती है, इसलिए षट्चक्र वेधन में सुषुम्ना ही कुण्डलिनी का महापथ है। सुषुम्नावदने शीघ्रं विद्युल्लेखेव सस्फुरेत्' (यो०कु०उ०) अर्थात् 'कुण्डलिनी शीघ्रं ही बिजली की रेखा के समान सुषुम्ना नाड़ी से भीतर चढ़ती है।' इस प्रकार सभी शास्त्रों ने सुषुम्ना नाड़ी के महत्व को स्वीकार किया है।

दस वायु

प्राणोऽपानः समानश्चोदानव्यानौ च वायवः ।
नागः कूर्मोऽथ कृकलो देवदत्तो धनंजयः ॥३२

हृदि प्राणो वसेन्नित्यमपानो गुदमण्डले ।
समानो नाभिदेशे तु उदानः कण्ठमध्यतः ॥३३

व्यानो व्यापी शरीरेषु प्रधानाः पञ्च वायवः ।
प्राणाद्याःपंचविख्याता नागाद्या पंच वायवः ॥३४

उद्गारे नाग आख्यातः कर्म उन्मीलने स्मृतः ।
कृकरः क्षुत्कृज्ज्ञेयो देवदत्तो विजृम्भणे ॥३५

न जहाति मृतं चापि सर्वव्यापी धनंजयः ।
एते सर्वासु नाडीषु भ्रमन्ते जीवरूपिणि ॥३६

टीका—शरीर में दस वायुओं का निवास है–प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त और धनंजय। इनमें से प्राण हृदय में, अपान गुदा-मण्डल में, समान नाभिदेश में, उदान कण्ठ में और व्यान समूचे शरीर में रहता है। इस प्रकार यह प्राणादि पाँच प्रधान वायु हैं। इनके अतिरिक्त पाँच वायु (उपवायु) और हैं—उद्गार (डकार) उत्पन्न करने वाला नाग नामक वायु है। कूर्म वायु का कार्य है, नेत्रोन्मीलन, कृकर का कार्य है छींक उत्पन्न करना, देवदत्त का कार्य है जँभाई लेना और धनंजय शरीर के सभी अंगों में व्याप्त रहता है। चार घड़ी तक तो यह मृत शरीर में भी रहता है। इस प्रकार यह दस वायु जीव के स्वरूप में सभी नाड़ियों में भ्रमण करते हैं ॥३२-३६॥

व्याख्या—उक्त श्लोकों में पाँच मुख्य वायुओं के कार्यों का उल्लेख नहीं है, इसलिए उनका विवेचन भी आवश्यक है। प्राण-वायु का स्थान हृदय में है। यह श्वास को बाहर-भीतर करता और भोजनपानादि का परिपाक करता है। अपान वायु का स्थान गुह्यदेश है, जहाँ से वह मल-मूत्र निकालने का कार्य करता है। समान वायु नाभि में रहकर शरीर को यथावत् (स्वा-

भाविक अवस्था में) रखने का कार्य करता है। उदान वायु कण्ठ में रहता है और शरीर की वृद्धि का कार्य करता है। व्यान वायु पूरे शरीर में व्याप्त रह कर ग्रहण करना त्यागना आदि अंगों के धर्मों को करता है।

अन्य मतानुसार प्राणवायु मुख, नासा, हृदय और नाभि में कुण्डलिनी के चारों ओर रहता है। पाँव के अँगूठों में भी उस का सदा निवास है। अपान वायु के स्थान गुद उपस्थ, ऊरु, जानु, उदर, पेड़ू कटि और नाभि है। उदान वायु के स्थान हाथ, पाँव और संधियाँ हैं। समान वायु का निवास उदराग्नि कल सहित सभी अंग हैं। व्यान वायु के स्थान मुख, नेत्र, नासिका, कान, कण्ठ कपोल और हाथों के मणिबन्ध माने गये हैं।

त्रिशिखब्राह्मणोपनिषत् में इन वायुओं का जिस प्रकार से विवेचन मिलता है, उसका वर्णन भी यहाँ उचित होगा—

प्राणपानौ समानश्च उदानो व्यान एव च।
नागः कूर्मश्च कृकरो देवदत्तो धनंजयः॥
चरन्ति दशनाडीषु दश प्राणादि वायवः।
प्राणादिपंचकं तेषु प्रधानं तत्र च द्वयम्॥
प्राण एवाथवा ज्येष्ठो जीवात्मानं विभर्ति यः।
आस्यनासिकयोर्मध्यं हृदयं नाभिमण्डलम्॥
पादांगुष्ठमिति प्राणस्थानानि द्विजसत्तम।
अपानश्चरति ब्रह्मन् गुदमेढ्ररुजानुषु॥
समानः सर्वगात्रेषु सर्वव्यापी व्यवस्थितः।
उदानः सर्वसन्धिस्थः पादयोर्हस्तयोरपि॥

अर्थात्—प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान, नाग, कूर्म, कृकर, देवदत्त और धनंजय—यह दस प्राणवायु दस प्रमुख

नाड़ियों में चलते हैं। इनमें प्राणादि प्रथम पाँच प्रधान अथवा दो (प्राण और अपान) मुख्य हैं अथवा एक प्राणवायु ही सबसे मुख्य है जो जीव को धारण किये हुए रहता है। प्राण के पाँच स्थान मुख्य हैं—मुख, नासिका का मध्यभाग, हृदय, नाभिमंडल और पाँव का अँगूठा। अपान के चलने के स्थान हैं गुदा, मेढ़्र, जंघा और घुटने। समान वायु सब अङ्गों में व्याप्त रहता है। उदान हाथ-पाँव और सभी संधियों में स्थित है। व्यान के स्थान हैं श्रोत्र, जंघा, कटि, एड़ी कन्धे और कण्ठ नागादि पंच उपवायु त्वचा, अस्थि आदि अंगों में रहते हैं।

प्राणापान का साधन आवश्यक

आक्षिप्तो भुजदण्डेन यथोच्छलतिकन्दुकः।
प्राणापानसमाक्षिप्तस्तथा जीवो न तिष्ठति ॥३७
प्राणापनवशोजीवो ह्यधश्चो-र्वं च धावति।
वामदक्षिणमार्गेण चंचलत्वान्न दृश्यते ॥३८

टीका—जैसे कि कन्दुक अर्थात् गेंद जब हाथ द्वारा पृथिवी पर ताड़ित होकर स्वयं उछलता है, वैसे ही प्राणवायु की प्राप्ति में जीव को आकर्षित करके अपान वायु ठहरने नहीं देता। जैसे कि गेंद खेलने वालों के वश में रहती है वैसे ही जीव अविद्या के वश में रहता है। जिस कारण जीव प्राण-अपान के वश में है, उसी कारण से वह इडा और पिंगला नाड़ियों के द्वारा मूलाधार तक गिरता और मुख एवं नासिकारन्ध्रों तक चढ़ता है। इस प्रकार गिरता चढ़ता ही रहता है और चंचल होने के कारण दिखाई भी नहीं देता ॥३७-३८

व्याख्या—यह जीव प्राण-अपान वायुओं के वश में रहने के कारण इड़ा-पिंगला नाड़ियों द्वारा हाथ से ताड़ित गेंद के समान गिरता-चढ़ता रहता है। उसकी इस चंचलता को रोकने के लिए प्राण-अपान को जीतना आवश्यक है। क्योंकि प्राण-अपान को जीते बिना जीवात्मा संयत नहीं हो सकता और जब तक वह संयत न हो तब तक हृदय कमल के मध्य आत्म-ध्यान भी नहीं बन पाता।

यहाँ जीवात्मा से तात्पर्य चित्त अर्थात् मन से भी समझना चाहिए। क्योंकि मन के चंचल रहते हुए ईश्वर की प्राप्ति संभव नहीं है। शाट्यायनीयोपनिषत् के अनुसार भी मन ही जीव के भवचक्र में घूमने का कारण है। यथा—

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।
वन्धाय विषयासक्त मुक्त्यै निर्विषयं स्मृतम् ॥

अर्थात्—मन ही मनुष्यों के बन्धन और मोक्ष का कारण है। जो मन विषयों में आसक्त होता है वह बन्धन का और जो विषयों से पराङ्मुख होता है वह मोक्ष कारण रहता है।

इस प्रकार आत्म-साक्षात्कार की उपलब्धि में मन ही प्रमुख कारण है। उसे वश में करना अत्यन्त आवश्यक है। मैत्रैय्युपनिषत् में कहा है—

चित्तमेव हि संसारस्तत्प्रयत्नेन शोधयेत्।
यच्चित्तस्तन्मयो भाति गुह्यमेतत्सनातनम् ॥
चित्तस्य हि प्रसादेन हन्ति कर्म शुभाशुभम्।
प्रसन्नात्मात्मनि स्थित्वा सुखमव्ययमश्नुते ॥

अर्थात्—चित्त ही संसार है, इसलिए प्रयत्न पूर्वक उसे शुद्ध करें। 'जैसा चित्त, वैसी उसकी गति' यह सनातन सिद्धान्त है।

चित्त के शान्त होने पर शुभाशुभ कर्म नष्ट हो जाते हैं और शान्त चित्त वाला मनुष्य आत्मा में लीन होकर अक्षय आनन्द को प्राप्त होता है।

इस सबसे यही सिद्ध होता है कि मन को निस्सार विषयों में भटकने से रोका जाय। क्योंकि मन के वश में होने पर ही साधक आत्मवेता हो सकता है।

रज्जुबद्धो यथा श्येनो यतोऽप्याकृष्यते पुनः।
गुणेबद्धस्तथा जीवः जाणापाणेन कृष्यते ॥३९
अपानः कर्षति प्राणं प्राणोऽपानं च कर्षति।
ऊर्ध्वानः संस्थितावेतौ संयोजयति योगवित् ॥४०

टीका—बाज पक्षी के पाँव में डोरी बाँधकर ढोली छोड़ दें तो वह उड़ जायगा और डोरी को खींच लें तो पुनः निकट आ जायगा, उसी प्रकार माया के गुणों से बँधा हुआ जीव प्राण-अपान वायुओं द्वारा ऊपर नीचे खींचा जाता है। आज्ञा चक्र में स्थित प्राणवायु ऊपर से मूलाधार में स्थित अपान वायु को ऊपर खींचता है और मूलाधार में स्थित अपान वायु आज्ञा चक्र में स्थित प्राणवायु को नीचे खींचता है। इस प्रकार यह दोनों वायु परस्पर एक दूसरे को अपनी-अपनी ओर खींचते रहते हैं। परन्तु योगवेत्ता पुरुष इन दोनों का संयोजन करते हैं ॥३९-४०

व्याख्या—यह जीवात्मा सत्व, रज, तम इन तीन गुणों के प्रभाववश वासनाओं के बन्धन में पड़ जाता है। उस समय अविद्या के कारण उसे आत्मबुद्धि नहीं रहती और वह शरीर में ही आत्म-भ्रान्ति करने लगता है। परन्तु जब वह बुद्धि में लीन हो जाताहै तब उसके निरुपाधि शुद्ध ब्रह्म होनेकी संभावना होती है तब उसकी चित्तवृत्ति विषयों की ओर आर्कर्षित होकर उसे

ईश्वरभाव से हटा कर जीवभाव की ओर ही खींचने लगती है।

प्राणापान के पारस्परिक आकर्षण को संयमित करने के लिए योगाभ्यास की अपेक्षा होती है। प्राण-अपान का यह संयोग ही उक्त क्रिया से परिचित कराता है, योगी उन्हें प्राणायाम के द्वारा वशव सूर्य चन्द्रमा का एकाकार करते हैं, जो कि हठयोग एक प्रक्रिया है। सौभाग्यलक्ष्म्युपनिषत् में कहा है—

योगेन योगो ज्ञामव्यो योगो योगात् प्रवर्द्धते।
योऽप्रमत्तस्तु योगेन स योगी रमते चिरम्॥

अर्थात्—योग से योग की वृद्धि होती है इसलिए योग के द्वारा ही योग को जानना चाहिए। योग में सदैव दत्तचित्त रहने वाला योगी चिरकाल तक सुख का उपयोग करता है।

गीता में कृष्ण भी इस प्रकार कहते हैं—

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥

अर्थात्—योगयुक्त पुरुष सभी पदार्थों में आत्मा का निवास देखता है। इस प्रकार उसे संसार की एकता का यथार्थ ज्ञान हो जाता है और वह सर्वत्र समान भाव से देखने लगता है।

'गुणवद्धस्ततो जीवः' कह कर ग्रन्थकार ने जीव को गुणोंसे बँधा हुआ माना है। यथार्थ में सत्व, रज, तम—यह तीनों गुण माया के अंश हैं, उनमें ही शरीर सम्बद्ध है। या यों कहिये कि त्रिगुणात्मक शरीर के बन्धन में पड़े हुए जीव को गुणों के प्रभाव में रहना होता है। उसमें जिस गुण की अधिकता होगी, वैसा ही स्वभाव बनेगा। अनेक विद्वानों की मान्यता है कि तमोगुण की अधिकता से दुर्वासनाओं की अधिकता होती है, जिसमें क्रोध और कुप्रवृत्ति भी सम्मिलित है, रजोगुण की अधिकता से भोग की प्रवृत्ति तो रहती है परन्तु मनुष्य पाप-पुण्य से डरता भी है

और सत्वगुण की अधिकता से वैराग्य उत्पन्न होता है तथा चित्त वृत्तियाँ ब्रह्म-प्राप्ति और आत्मज्ञान की ओर प्रवृत्त होती है।

हंस मन्त्र एवं अजपा गायत्री

हकारेण बहिर्याति सकारेण विशेत्पुनः ।
हंस हंसेत्यमुं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा ॥४१

षट् शतानि त्वहोरात्रे सहस्राण्येकविंशति ।
एतत्संख्यान्वितं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा ॥४२

अजपा नाम गायत्रीं योगिनां मोक्षदायिनी ।
अस्याः संकल्पमात्रे सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥४३

अनया सदृशी विद्या अनया सदृशो जपः ।
अनया सदृशं ज्ञानं न भूतं न भविष्यति ॥४४

कुण्डलिन्यां समुद्भूता गायत्री प्राणधारिणी ।
प्राणविद्या महाविद्या यस्तां वेत्ति स वेदवित् ॥४५

टीका—यह जीव (प्राणवायु) हकार की ध्वनि से बाहर आता और साकार की ध्वनि से भीतर जाता है। इस प्रकार वह सदा हंस-हंस मन्त्र का जप करता रहता है। इस भाँति एक दिन-रात में जीव इक्कीस हजार छः सौ मन्त्र सदा जपता रहता है। इसका नाम 'अजपा' गायत्री है। जो कि योगियों के लिए मोक्ष देने वाली है। इसके संकल्पमात्र से सब पापों से छुटकारा हो जाता है। इसके समान न कोई विद्या है, न इसके समान कोई ज्ञान ही भूत-भविष्य काल में हो सकता है। कुण्ड-

लिनी में उत्पन्न हुई यह गायत्री प्राणधारिणी, प्राणविद्या और महाविद्या है, इसे जो जानता है वही वेद का जानने वाला है ।।४१-४५

व्याख्या—प्राणवायु हकार ध्वनि से बाहर आता है और सकार ध्वनि से भीतर प्रविष्ट होता है। इस प्रकार हकार सकार रूपी दोनों ध्वनियों के कारण हंस शब्द बनता है। इन दोनों ध्वनियों के बार-बार होने के कारण इस हंस-ध्वनि की एक-दिन-रात्रि में इक्कीस हजार छः सौ बार आवृत्ति हो जाती हैं। जप न करने पर भी, स्वतः जप हो जाने के कारण इसे अजपा गायत्री कहते हैं। हंसोपनिषत् में कहा है।

अथ हंसपरमहंसनिर्णयं व्याख्यास्यामो ब्रह्मचारिणे दान्ताय गुरुभक्ताय हंसहंसेति सदा ध्यानम्। सर्वेषु देहेषु व्याप्य वर्तते यथा ह्यग्निः काष्ठेषु, तिलेषु तैलमिव। तं विदित्वा न मृत्यु-मेति ।।

अर्थात्—जो ब्रह्मचारी शान्त, इन्द्रियजेता और गुरुभक्त हो उसके समक्ष हंस-परमहंस का निर्णीत रहस्य कहना उचित है। यह जीव सब शरीरों में हंस-हंस जपता हुआ व्याप्त रहता है, जैसे कि काष्ठ में अग्नि और तिलों में तेल रहता है। इसे जान लेने पर मृत्यु का उल्लंघन किया जा सकता है।

जगत् का मातृका वर्णमाला स्वरूप मानी गई है। उसके दो वर्ण हंस और तीन वर्ण प्रणव हैं। यह जीव अपने श्वास के निकलने-भरने के द्वारा जो 'हंस' जपता है, वह हंस ही ब्रह्म है। पाशुपतब्रह्मोपनिषत् में उसी को ईश्वर और जीव स्वीकार किया है। यथा—

हंसात्ममालिका वर्णं ब्रह्मकाल प्रचोदिता।
परमात्मा पुमानिति ब्रह्मसम्पत्तिकारिणी ।।

अर्थात्—हँस का जप ही वर्णब्रह्म है, इसी के द्वारा ब्रह्म को प्राप्ति हो सकती है। यही परमात्मा है और पुरुष भी यही है

इस प्रकार अजपारूप 'हंस' शब्द को ब्रह्मरूप मानकर शरीर से निकलने वाले श्वास-प्रश्वास को अजपा गायत्री माना गया है। यह अजपा गायत्री कुण्डलिनी में उत्पन्न होती है, इसके समान कोई भी जप है, न पुण्य है। 'येन मार्गेण गन्तव्यं ब्रह्मस्थान निरामयम्' (ध्यानबिन्दूपनिषद्) अर्थात् 'इस कुण्डलिनी के मार्ग द्वारा जाता हुआ साधक निरामय ब्रह्मपद को प्राप्त हो जाता है।

शक्तिचालन

कन्दोर्ध्वे कुण्डली शक्तिरष्टधा कुण्डलाकृतिः।
ब्रह्मद्वारमुखं नित्य मुखेनाच्छाद्य तिष्ठति ॥४६
येन द्वारेण गन्तव्यं ब्रह्मगारमनामयम्।
मुखेनाच्छाद्य तद्द्वारं प्रसुप्ता परमेश्वरी ॥४७
प्रबुद्धा बुद्धियोगेन मनसा मरुता सह।
सूचीव गुणमादाय व्रजत्यूर्ध्वं सुषुम्णया ॥४८

टीका—उपर्युक्त नाड़ियों के उत्पत्ति स्थान रूप कन्द के ऊपर कुण्डलिनी आठ प्रकार की होकर ब्रह्मरन्ध्र के मुख को रोककर स्थित हैं। जिस मार्ग से चलते हुए पाप-रहित ब्रह्म-द्वार की प्राप्ति होती है, उसके द्वार को आच्छादित करती हुई कुण्डलिनी शक्ति सोती रहती है। वह बुद्धि के संयोग से जाग्रत् होकर मन और प्राण के साथ सुई के समान सुषुम्ना द्वार में प्रविष्ट होकर ऊपर की ओर चढ़ती है ॥४६-४८

व्याख्या—नाड़ियों के उत्पत्तिकेन्द्र से ऊपर मणिपूर चक्र है, उसमें यह शक्ति अष्टधा होकर सोती रहती है। उससे ब्रह्म-रन्ध्र का मार्ग रुका रहता है। उस कुण्डलिनी का जागरण बुद्धि के द्वारा ही हो सकता है।

ध्यानविन्दूपनिषत् में 'प्रबुद्धा बुद्धियोगेन' के स्थान पर, प्रबुद्धा वह्नियोगेन' कह कर कुण्डलिनी का जागरण अग्नि के संयोग से माना है। यहाँ दोनों ही कथन ठीक हैं, उनमें प्रथम अस्पष्ट और दूसरा स्पष्ट है। क्योंकि बुद्धि का योग होने पर ही साधक योग-साधन में तत्पर होकर अग्नि को उत्तेजित कर सकेगा। अग्नि प्रदीप्त करने की यह क्रिया भी बुद्धि के योग बिना सफलीभूत नहीं हो सकती।

योगकुण्डल्युपनिषत् में कुण्डलिनी को चलाने के दो प्रमुख साधन माने हैं—(१) सरस्वती चालन और (२) प्राण-निरोध। इसलिए विद्वान् योगी दोनों का ही प्रयोग करते है। उक्त उप-निषत् में ही कहा है—

मुहूर्तद्वयपर्यन्तं निभयाच्चालयेत्सुधीः।
ऊर्ध्वमाकर्षयेत्किंचित्सुम्नां कुण्डलीगता॥
तेन कुण्डलिनी तस्याः सुषुम्नाया मुखं व्रजेत्।
जहाति तस्मात्प्राणोऽयं सुषुम्नां व्रजति स्वयम्॥

अर्थात्—दो मुहूर्त तक सरस्वती का चालान करके सुषुम्ना नाड़ी को, जो कि कुण्डलिनी के निकट ही होती है, किंचित् ऊपर की ओर आकर्षित करे (खींचे) इस भाँति अभ्यास करने पर कुण्डलिनी सुषुम्ना के मुख में चढ़ने लगती है और उसके साथ प्राण भी स्वयं ही उस स्थान को छोड़कर सुषुम्ना में चलने लगता है।

अवरुद्ध मोक्षद्वार को खोलने के लिए प्राणशक्ति का सुषुम्ना में प्रवेश करना आवश्यक है। 'नाकृतं मोक्षमार्गस्यात् प्रसिद्ध

पश्चिमं बिना' (यो० शि० उ०) अर्थात् 'पश्चिम मार्ग के प्रसिद्ध (प्रशस्त) हुए बिना मोक्षमार्ग भी प्रशस्त नहीं हो सकता ।' योगतत्वोपनिषत् में कहा है—

वायुना सहचित्तं च प्रविशेच्च महापथम् ।
यस्य चित्तं स्वपवनः सुषुम्नां प्रविशेदिह ॥
भूमिरापोऽनलोवायु राकाशश्चेति पंचकः ।
येषु पंचसु देवानां धारणा पंचधोच्यते ॥

अर्थात्—जिसका चित्त वायु के सहित सुषुम्ना में प्रवेश कर जाता है, उसके लिए पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और आकाश इन पंचमहाभूत रूपी देवताओं की पाँच प्रकार की धारणा हो जाती है ।

ग्रन्थकार ने कुण्डलिनी को आठ प्रकार की होकर ब्रह्मरन्ध्र को रोके रहना कहा है । इसकी पुष्टि अनेक शास्त्रों ने की है । शाण्डिल्योपनिषत् के अनुसार—

'नाभेस्तिर्यगधोर्ध्वं कुण्डलिनी स्थानम् । अष्टप्रकृत्तिरूपाऽष्टधा कुण्डलीकृता कुण्डलिनी शक्तिर्भवति ।'

अर्थात्—नाभि के पार्श्व में ऊपर की ओर कुण्डलिनी का स्थान है । यह कुण्डलिनी शक्ति आठ प्रकृति स्वरूपा होकर आठ प्रकार से कुण्डल किये हुए है ।

प्रसुप्तभुजगाकारा पद्मतन्तुनिभा शुभा ।
प्रबुद्धा बह्नियोगेन व्रजत्यूर्ध्वं सुषुम्णया ॥४९
उद्घाटयेत्कपाटं तु तथा कुञ्चिकया हठात् ।
कुण्डलिन्या तथा योगी मोक्षद्वारं प्रभेदयेत् ॥५०

टीका—सोती हुई कुण्डलिनी सर्प की आकृति की, कमलनाल के तन्तु जैसी होती है, वह अग्नि के संयोग से जाग्रत् होकर

सुषुम्ना मार्ग से ऊपर चढ़ती है। जिस प्रकार चाबी से ताला खुलता है, वैसे ही कुण्डलिनी-जागरण से योगी मोक्ष के द्वार को खोल लेता है ॥४९-५०

व्याख्या—कुण्डलिनी शक्ति जब तक निद्रा में पड़ी रहती है, तब तक साधक का कोई प्रयत्न सफल नहीं हो पाता। यह शक्ति सर्प के आकार में कुण्डल मारे हुए सोती रहती है। गौतमीय तन्त्र में कहा है—

मूलपद्मे कुण्डलिनी यावन्निद्रायिता प्रभो।
तावत् किंचिन्न सिध्येत मंत्रयंत्रार्चनादिकम् ॥
जागर्ति यदि सा देवी बहुभिः पुण्यसंचयै।
तदा प्रासादमायाति मन्त्रयन्त्रार्चनादिकम् ॥

अर्थात्—जब तक कुण्डलिनी-शक्ति मूलाधार में रहकर सोती है जब तक कोई भी मन्त्र, यन्त्र, पूजा आदि सफल नहीं होते। अनेक पुण्यों के संचय होने पर उनके प्रभाव से जब वह देवी जाग्रत् होती है, तब उसके प्रसाद से मन्त्र, यन्त्र, पूजनादि प्रभावकारी होते हैं।

कुण्डलिनी के दो मुख होते हैं। एक मुख से वह सुषुम्नारंध्र में साढ़े तीन लपेटे लगाये हुए सोती रहती है। इसका दूसरा मुख लकड़ी के प्रहार से आहत सर्पिणी के समान होता है। उसके इसी मुख से शरीर में श्वास प्रश्वास के आवागमन की क्रिया सम्पन्न होती रहती है। कुण्डलिनी का यह मुख सदैव जाग्रत् और क्रियाशील रहता है। इसी मुख से जीव को चेतना और बाह्य ज्ञान बना रहता है परन्तु प्रथम मुख उसके सुप्त होने के कारण निष्क्रिय रहता है, इसलिए मनुष्य आत्मज्ञान अथवा ब्रह्म-साक्षात्कार प्राप्त करने में सफल नहीं हो पाता। इसीलिए ग्रन्थकार द्वारा 'येन द्वारेण गन्तव्यं इत्यादि उपर्युक्त कथन यह स्पष्ट करता है कि जिस द्वार से जाने पर निरामय ब्रह्मस्थान की

प्राप्ति हो सकती है, उसी द्वार को घेरे हुए वह सोई पड़ी रहती है।' इसका स्पष्ट अर्थ हुआ कि कुण्डलिनी के जाग्रत होकर ऊपर चढ़ने पर ही वह मोक्ष देने वाली सिद्ध हो सकती है।

शक्तिचालिनी मुद्रा

कृत्वा सम्पुटितौ करौ दृढ़रं बध्वा तु पद्मासनं
गाढं वक्षसि सन्निधाय चिबुकं ध्यानं च तच्चेति ।
वारंवारमपानमूर्ध्वमनिलं प्रोच्चारयेत्पूरितं
मुञ्चन्प्राणमुपैतिबोघमतुलं शक्तिप्रभावादतः ।।५१

टीका—दोनों हाथों की अञ्जली बाँधकर दोनों कुहनियों को दृढ़ता से हृदय पर रखकर पद्मासन करे। ठोड़ी को हृदय दृढ़ता से लगाकर ज्योतिरूप ब्रह्म का ध्यान करे। प्राणायाम द्वारा वायु खींचकर उसे अपान वायु से मिलावे और कुम्भक द्वारा वायु को रोककर धीरे-धीरे छोड़ दे। ऐसा करने से साधक को कुण्डलिनी शक्ति के प्रभाव का अतुलित बोध होता है अथवा शक्ति जाग्रत होती है ।।५।

व्याख्या—यहाँ ग्रन्थकार ने पद्मासन लगाकर जालन्धर बन्ध करने का संकेत किया है, जिसके करने से कुण्डलिनी शक्ति का जागरण हो सकता है। यह शक्तिचालिनी मुद्रा भी कहलाता है। यह मुद्रा दीर्घकाल के अभ्यास से सिद्ध हो सकती है।

शक्ति चालिनी मुद्रा का विस्तृत वर्णन घेरण्ड संहिता में इस प्रकार मिलता है—

नाभिं सम्वेष्टय वस्त्रेण न च नग्नो बहिःस्थितः ।
गोपनीयगृहे स्थित्वा शक्तिचालनमभ्यसेत् ।।

वितस्तिमितं दीर्घं विस्तारे चतुरंगुलम् ।
मृदुलं धवलं सूक्ष्मं वेष्टनाम्बर लक्षणम् ।।
एवंमम्बरयुक्तं च कटिसूत्रेण योजयेत् ।
भस्मनागात्र संलिप्तं सिद्धासनं समाचरेत् ।।
नासाभ्यां प्राणमाकृष्य अपानेयोजयेद्बलात् ।
तावदाकुञ्चयेद् गुह्यं शनैरश्विनिमुद्रया ।।
यावद्गच्छेतसुषुम्नायां वायुः प्रकाशयेत् हठात् ।
तदावायुप्रबन्धेन कुम्भिका च भुजंङ्गिनी ।।
बद्धश्वासस्ततोभूत्वा ऊर्ध्वमार्गं प्रपद्यते ।
शक्तीविनाचालनेन योनिमुद्रा न सिद्धयति ।।

अर्थात्—नाभि को वस्त्र से लपेट कर शक्तिचालिनी मुद्रा का एकान्त स्थान से अभ्यास करे। नग्नावस्था में इस मुद्रा का साधन कभी बाहर न करे। बिलाँदशर चौड़ा और चार अँगुल लम्बा श्वेत कोमल वस्त्र नाभि पर रखे और उसे कटिसूत्र से बाँधे। देह पर भस्म लगाकर और सिद्धासन से बैठ कर प्राण को खींचे और अपान से संयुक्त करे। सुषुम्ना के द्वार से गमन करती हुई वायु जब तक प्रत्यक्ष न हो तब तक अश्विनी मुद्रा से गुदा का संकोच करना चाहिए। इस प्रकार वायु के रुकने से सर्पाकार कुण्डलिनी जगाकर ऊर्ध्वमार्ग में स्थित होती है। इस शक्तिचालिनी मुद्रा के बिना योनिमुद्रा की सिद्धि नहीं होती।

इसमें पद्मासन के स्थान पर सिद्धासन करने का निर्देश है। महर्षि-गोरक्षनाथ ने इस मुद्रा को इतना स्पष्ट नहीं किया, जितना कि महर्षि घेरण्ड ने किया है।

योगी की चर्या कथन

अंगानां मर्दनं कृत्वा श्रमसञ्जातवारिणा ।
कट्वम्ललवणत्यागी क्षीरभोजनमाचरेत् ।।५२

ब्रह्मचारी मिताहारी त्यागी योगपरायणः ।
अब्दादूर्ध्वं भवेत्सिद्धो नात्र कार्या विचारणा ॥५३

संधिग्धो मधुराहारी चतुर्थांशविवर्जिताः ।
भुञ्चते स्वरस प्रीत्यै मिताहारी स उच्यते ॥५४

कन्दोर्ध्वे कुण्डलीशक्तिः शुभमोक्षप्रदायिनी ।
बन्धनाय च मूढानां यस्तां वेत्ति स वेदवित् ॥५५

टीका—उक्त मुद्रा के अभ्यास के कारण शरीर के अङ्ग में जो पसीना आता है, उसे अङ्गों में ही मल लेना चाहिए । लवण और अम्ल रसों से युक्त भोजन न करे वरन् दूध पीकर ही रहे । इस प्रकार अल्पभोजी, सर्व त्यागी और योगपरायण रहे । इसका एक वर्ष से अधिक समय अभ्यास करने से सिद्धि हो सकती है । इसमें कोई विचार नहीं करना चाहिए । सुखद, स्निग्ध, मधुर आहार करे, चौथाई पेट खाली रखे । भोजन करने से पूर्वइष्टदेव को निवेदन करे, वह योगी मिताहारी कहलाता है । केन्द्र के ऊपर शुभ मोक्ष के देने वाली कुण्डलिनी शक्ति स्थित है । यह अज्ञानियों के लिए बन्धन में रखने वाली है । उसे जो जानता है, वही वेदों को जानने वाला है ॥५२-५५

व्याख्या—योगाभ्यास के परिश्रम से शरीर के अङ्गों में पसीना आता है, उसे अंगों में ही मल लेने का विधान है । अन्य ग्रन्थों में भी ऐसा ही कथन मिलता है । ध्यानबिन्दूपनिषत् से भी इसकी पुष्टि होती है ।

योगी को मिताहार करना चाहिए । उसमें आधे पेट भोजन करना, चौथाई पेट को जल से भरना और शेष चौथाई खाली रखना चाहिए । यही मिताहार कहा जाता है । शक्तिचालनार्थ इसकी अत्यन्त अपेक्षा है । योगकुण्डल्युपनिषत में कहा है—

तयोरादौ समीरस्य जयं कुर्यान्नरः सदा।
मिताहारश्चासनं च शक्तिचालस्तृतीयकः॥
एतेषां लक्षणं वक्ष्ये श्रृणु गौतम सादरम्।
सुस्निग्धमधुराहारचतुर्थांशावशेषकः॥
भुज्यते शिवसम्प्रीत्यै मिताहारः स उच्यते।

अर्थात्—साधक प्रथम प्राण को जीते इसके लिए उसे मिताहार, आसन और शक्तिचालन करना चाहिए। हे गौतम! तुझे इनके लक्षण बताता हुँ उन्हें आदर सहित सुन। स्निग्ध और मधुर आहार करे और उदर का चौथाई भाग खाली रखे, इस प्रकार भगवान् की प्राप्ति के उद्देश्य से भोजन किया जाय, वही मिताहार कहलाता है।

कुण्डलिनी शक्ति ही योगी के लिए मोक्ष देने में कारण रूप है। वह अज्ञानियों के लिये बन्धनकारिणी इसलिए है कि अज्ञानी अपने अज्ञान के कारण उसके विषय में जानते ही नहीं तो उसे जगावेंगे ही कैसे? ज्ञानी पुरुष उसकी शक्ति के विषय में परिचित होते हैं। और उसे जगाने की क्रिया जानते हैं। इसीलिए वह उनको मोक्ष प्रदान करने वाली हो जाती है।

विभिन्न ग्रन्थों में इसके चालनार्थ विभिन्न क्रियाओं का वर्णन विलता है। कहीं पद्मासन, कहीं सिद्धासन तो कहीं वज्रासन लगाकर। योगकुण्डल्युपनिषत् में ही कहा है—

बामांघ्रिमूलं कन्दाधः अन्यं तदुपरि क्षिपेत्।
समग्रीवशिरः कायो वज्रासनमितीरितम्॥
कुल्डल्येव भवेच्छक्तिस्तां तु संचालयेद् बुधः।
स्वस्थानादाभ्रुवोमध्यं शक्तिचालनमुच्यते॥

अर्थात्—बाँये पांव की एड़ी को योनिस्थान में रखकर दाँये पाँव की एड़ी उसके ऊपर रख ले। ग्रीवा और सिर को समान

तथा सीधा रखे तो यह वज्रासन होता है। कुण्डलिनी ही मुख्य शक्ति है, ज्ञानी साधक उसका चालन करके दोनों भौंहों के मध्य में ले जाता है, वही चक्ति चालन है।

शक्तिचालन के विषय में अन्यत्र कहा है—

ऊर्ध्वं वितस्तिमात्रं तु विस्तारं चतुरंगुलम्।
श्वेतं तु मृदुलं प्रोक्त वेष्टिपं वरलक्षणम्॥
सति वज्रासने पादौ कराभ्यां धारयेद्दृढम्।
गुल्फदेशे समीते च कन्दं तत्र प्रपीडयेत्॥
वज्रासने स्थितो योगी चालयित्वा च कुण्डलीम्।
कुर्यादनन्तरं भस्त्रां कुण्डलीमाशु बोधयेत्॥

अर्थात्—मूल स्थान से बिलांद भर ऊपर नाभि और मेढ़् के मध्य नौ अंगुल लम्बा और चार अंगुल चौड़ा, पक्षी के अण्डे के आकार का, शुभ-कोमल वस्त्र से लपेटा जैसा कन्द है। वज्रासन द्वारा पाँवों की एड़ियों को हाथों से पकड़ कर उस कन्द स्थान में दृढ़ता पूर्वक लगाकर उसको पीड़ित करे। इस प्रकार वज्रासन से बैठकर शक्ति चालिनी मुद्रा द्वारा कुण्डलिनी को चलायमान कर भस्त्रा कुम्भक करता हुआ कुण्डलिनी शक्ति को शीघ्र जाग्रत करे।

पञ्चमुद्रा कथन

महामुद्रां नभोमुद्रां उड्डीयानं जलन्धरम्।
मूलबन्धश्च यो वेत्ति स योगी मुक्तिभाजनः॥५६

टीका—महामुद्रा, नभोमुद्रा, अड्डीयान बन्ध, जालन्धर बन्ध और मूलबन्ध, इनका करना जो जानता है, वही योगी मुक्तिभाजन होता है॥५६

व्याख्या—उक्त पाँच मुद्राएँ प्रमुख हैं। शक्तिचालन का अभ्यास होने पर भी उक्त मुद्राएँ करते रहना चाहिए। अनेक विद्वान् महामुद्रा और नभोमुद्रा दोनों को प्रमुख मुद्राएँ मानते हैं। नभोमुद्रा और खेचरी मुद्रा में कोई अन्तर नहीं है, वरनु खेचरी नाम अधिक प्रसिद्ध है। घेरण्ड संहिता में इन दोनों का पृथक्-पृथक् वर्णन मिलता है।

यहाँ जिन तीन बन्धों की चर्चा हुई है, वे भी मुद्राओं के अन्तर्गत हैं। योगवेत्ताओं ने इनके अभ्यास पर भी बहुत बल दिया है। योगकुण्डल्युपनिषत् में भी कहा है—

बन्धत्रयमिदं कार्यं योगिभिर्वीतकल्मषैः।
प्रथमो मूलबन्धस्तु द्वितीयोड्डीयाणाभिधः।
जालन्धरस्तृयस्तु तेषां लक्षणमुच्यते॥

अर्थात्—योगी को पापनाशक तीन बन्ध अवश्य करने चाहिए। उनमें प्रथम मूल बन्ध, दूसरा उड्डीयान बन्ध और तीसरा जालन्धर बन्ध कहलाता है।

महामुद्रा

वक्षोन्यस्तहनुः प्रपीड्य सुचिरं योनिं च वामांघ्रिणा।
हस्ताभ्यामनुधारयेत् प्रसरितं पादं तथा दक्षिणम्॥
आपूर्य श्वसनेन कुक्षियुगलं बद्ध्वा शनैःरेचयेत्।
देषाव्याधिनाशिनौ सुमहती मुद्रानृणां कथ्यते॥५७
चन्द्राङ्गेन समभ्यस्य सूर्यांगेनाभ्यसेत्पुनः।
यावत्तुल्या भवेत्संख्या ततो मुद्रां विसर्जयेत्॥५८

टीका—हृदय में ठोड़ी को दृढ़ता से धारण कर दाँये पाँव की एड़ी को योनि स्थान पर दबावे और दाँये पाँव को लम्बा

करके और दोनों हाथों से पाँव को मध्य से पकड़ले। फिर पूरक द्वारा उदर में वायु भरकर कुम्भक द्वारा समय रोके और तत्पश्चात् धीरे-धीरे निकाल दे। यह रोगों को नष्ट करने वाला श्रेष्ठ महामुद्रा कहलाती है। इसके अभ्यास का आरम्भ पहले चन्द्रनाड़ी से करे और फिर सूर्य नाड़ी से। इस प्रकार जब दोनों ओर के प्राणायाम समान मात्रा में हो जाँय तब मुद्रा को छोड़ दे ॥५७-५८

व्याख्या—उक्त महामुद्रा सब प्रकार के रोगों को नष्ट करती है प्राय सभी योग-ग्रन्थों में इनका वर्णन मिलता है। ग्रहयामल में इस मुद्रा का वर्णन इस प्रकार से मिलता है।

पादमूलेन वामेन योनि सम्पीड्य दक्षिणे।
पादं प्रसारितं कृत्वा कराभ्यां धारयेद्दृढ़म् ॥
कण्ठेवक्त्रं समारोप्य धारद्वायुमूर्ध्वतः।
यथादण्डाहतः सर्पो दण्डकारः प्रजायते ॥
ऋज्वीभूता तथा शक्तिःकुण्डली सहसाभवेत्।
तदाऽसामरणावस्था जायते द्वितपुटाश्रिता ॥
तदा शनैः शनैः रेव रेचयेत नवेगतः।
इयं खलुमहामुद्रा तवस्नेहात् प्रकाश्यते ॥

अर्थात्—बाँयी एड़ी से योनिस्थान को दबाकर दांये पाँव को पसारे और मुख को दोनों हाथों से पकड़ कर और कण्ठ को सिकोड़कर कुम्भक द्वारा वायु को रोके। इसके अभ्यास से जैसे डण्डे द्वारा पीटा गया सर्प डंडे के समान खड़ा हो जाता है, वैसे ही कुण्डलिनी शक्ति सहसा खड़ी हो जाती है। इस प्रकार दोनों पुटों से प्राणायाम की साम्य अवस्था हो जाय, तब वायु को धीरे-धीरे निकाल दे। इसी को महामुद्रा कहते हैं।

घेरण्ड संहिता में वर्णन संक्षेप में, परन्तु बहुत स्पष्ट रूप से मिलता है—

वायुमूलं वामगुल्फे संपीड्य दृढयत्नतः ।
याम्यपादं प्रसार्यार्थं केधृतं पदांगुलः ।
कण्ठ संकोचनं कृत्वा भ्रुवोर्मध्ये निरीक्षयेत् ।
महामुद्राभिधामुद्रा कथ्यते चैव सूरिभिः ।।

अर्थात्—गुदा स्थान को बाँयी एड़ी से दृढ़ता-पूर्वक दबाकर बाँये पाँव को फैलावे और हाथ से पाँवों की अँगुलियों को पकड़े और कण्ठ को सिकोड़कर भौंहों के मध्य स्थान में दृष्टि लगावे। विद्वानों ने इसे महामुद्रा कहा है।

महामुद्रा का फल कथन

तर्हि पथ्यमपथ्यं वा रसाः सर्वेऽपि नीरसाः ।
अपि भुक्तं विषं घोरं पीयूषमिव जोर्यंते ।।५९
क्षयकुष्ठमुदावर्तगुल्माजीर्णपुरोगमाः ।
रोगास्तस्य क्षयं यान्ति महामुद्रां च योऽभ्यसेत् ।६०
कथितेयं महामुद्रा महासिद्धकरी नृणाम् ।
गोपनीया प्रयत्नेन न देया यस्य कस्यचित् ।।६१

टीका—महामुद्रा का अभ्यास दृढ़ हो जाने पर पथ्य, अपथ्य और मिष्ठ, कटु, तिक्त, लवण, अम्ल आदि रसों का स्वाद और विचार कुछ भी शेष नहीं रहता। यदि घोर विष का भी भक्षण कर ले तो वह अमृत के समान हो जाता है। इससे क्षय, कुष्ठ, उदावर्त, गुल्फ, अजीर्ण आदि रोगों का भी शमन हो जाता है।

यह महामुद्रा अत्यन्त सिद्धि करने वाली है, जिसे प्रयत्नपूर्वक गुप्त रखे और अनधिकारी को कभी न दे ।।५६-६१

व्याख्या—महामुद्रा का अभ्यास सिद्ध हो जाने पर योगी को पथ्य-अपथ्य का कोई विचार नहीं रहता और न उसे मीठे, खट्ठे, कड़ुवे आदि का स्वाद ही आता है। उसमें घोर विष को भी अमृत के समान पचा लेने की शक्ति आ जाती है। यह मुद्रा सभी रोगों को नष्ट करने में भी अत्यन्त प्रभावकारी है। हठयोग प्रदीपिका में कहा है—

> इयं खलु महामुद्रा महासिद्धिः प्रदर्शिता।
> महाक्लेशादयो दोषाः क्षीयंते मरणादयः ।।

अर्थात्—यह महामुद्रा महान् सिद्धि को प्रत्यक्ष करने वाली है। इसके अभ्यास से (अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश रूपी पाँचों) महाक्लेश आदि दोष एवं जन्म-मरणादि नष्ट होते हैं।

शाण्डिल्योपनिषत् के अनुसार भी यही सिद्ध होता है—

वामपादमूलेन योनिं संपीड्य दक्षिण पाद प्रसार्य तं कराभ्यां धृत्वा नासाभ्यां वायुमापूर्य कण्ठबन्धं समारोप्योर्ध्वतो वायुं धारयेत्। तेन सर्वक्लेशहानिः। ततः पीयूषमिव विषं जीर्यते ! क्षयगुल्मगुदावर्तजीर्णत्वागादिदोषा नश्यन्ति। एष प्राणजयोपायं सर्वमृत्यूपघातकः ।।

अर्थात्—बाँये पाँव के मूल से ब्रह्मरन्ध्र को दबा कर दाँया पाँव पसारे और उसे दोनों हाथों से पकड़े। फिर दोनों नासापुटों द्वारा वायु भरकर कण्ठबन्धन के ऊपर चढ़ावे और ऊपर उठी वायु को रोक ले। इससे सभी क्लेशों का नाश होता है, विष भी अमृत के समान पच जाता है। क्षय, गुल्म, गुदावर्त और पुराने चर्म रोग नष्ट होते है। प्राण को जीतने का यह उपाय सर्व मृत्यु का नाश करने वाला है।

इस मुद्रा का अन्य योग शास्त्रों में भी इसी प्रकार वर्णन मिलता है। परन्तु अधिक विस्तार यहाँ अभीष्ट नहीं।

खेचरी मुद्रा

कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा।
भ्रुवोरन्तर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी ॥६२
न रोगान्मरणं तस्य न निद्रा न क्षुधा तृषा।
न मूर्च्छा तु भवेत्तस्य यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम्।६३

खेचरी मुद्रा का फल

पीड्यते न च शोकेन न च लिप्यते कर्मणा।
बाध्यते न स केनापि यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम् ॥६४

खेचरी मुद्रा का फल

चित्तं चलति नो यस्माज्जिह्वा चरति खेचरी।
तेनेयं खेचरी सिद्धा सर्वसिद्धैर्नमस्कृता ॥६५

टीका—जिह्वा को उल्टी लौटाकर कपाल कुहर में प्रविष्ट करे और दृष्टि को भौंहों के मध्य स्थिर कर ले। यह खेचरी मुद्रा होती है। जो योगी खेचरी मुद्रा को जानता है, उसे रोग, मृत्यु, निद्रा, क्षुधा, तृषा और मूर्छा से पीड़ित नहीं होना पड़ता। न उसे शोक होता है, न कर्म का बंधन। जो खेचरी मुद्रा को सिद्ध कर लेता है उसे भव-बन्धन में नहीं पड़ना होता। जिस योगी का चित्त चंचल नहीं होता और जिसकी जिह्वा खेचरी में रमण करती है, उनके लिए यह सभी सिद्धों द्वारा नमस्कार की हुई खेचरी मुद्रा सिद्ध हो जाती है ॥६२-६५

व्याख्या—जिह्वा को ऊपर की ओर लौटा कर कपालरन्ध्र में प्रवेश कराने से खेचरी मुद्रा होती है। यह अत्यन्त प्रभावशालिनी होने के कारण सभी सिद्धों द्वारा पूजनीया है। शाण्डिल्योपनिषत् में खेचरी मुद्रा का जो विस्तृत वर्णन मिलता है, उसे यहाँ संक्षेप में बताते हैं—

इडापिंगलयोर्मध्ये शून्यं चैवानिलं ग्रसेत्।
तिष्ठन्ती खेचरी मुद्रा तत्र सत्यं प्रतिष्ठितम् ।।

छेदन चालन दोहन, कलां परा जिह्वा कृत्वा दृष्टि भ्रूमध्ये स्थाप्य कपालकुहरे जिह्वा विपरीतगा यदा भवति तदा खेचरी मुद्रा जायते। जिह्वां नित्तं च खे चरति, तेनोर्ध्वचिह्वः पुमानमृतो भवति ।।

अर्थात्—इडा और पिंगला के मध्य जो शून्य भाग है, वह वायु को ग्रस लेता है। वहीं खेचरी मुद्रा रहती है और वहीं सत्य रहता है। छेदन, चालन और दाह के द्वारा जिह्वा को नौंकदार बनाकर, भृकुटियों के मध्य भाग में दृष्टि स्थिर कर ले। फिर जब कपाल के छिद्र में जिह्वा उलटी होकर जाने लगती है, तब खेचरी मुद्रा बनती है। इससे जीभ और चित्त दोनों ही कपालछिद्र रूपी आकाश में विचरण करते हैं, तब ऊपर गई हुई जीभ वाला वह पुरुष अमर हो जाता है।

विन्दुमूलं शरीराणां शिरास्तत्र प्रतिष्ठताः।
भावयन्ति शरीराणामापादतलमस्तकम् ।।६६

खेचर्या मुद्रया येन विवरं लम्बिकोर्ध्वतः।
न तस्य क्षरते बिन्दुः कामिन्यालिङ्गितस्य च ।।६७

यावद्‌विन्दुः स्थितो देहे तावन्मृत्यौर्भयं कुतः।
यावद्‌बद्धा नभोमुद्रा तावद्‌विन्दुर्न गच्छति ।।६८

टीका—विन्दु शरीर का मूल है, यह पाँव से शिर पर्यन्त प्रतिष्ठित रहता है। इसी से शिराओं में सजीवता और अपने की सामर्थ्य रहती है। जिसने खेचरी मुद्रा को कण्ठछिद्र की लम्बिका के ऊपर रोक लिया, उस योगी का बिन्दु कामिनी के आलिंगन से भी क्षरित नहीं होता जब तक शरीर में बिन्दु स्थित रहता है, तब तक मृत्यु का भय कहाँ ? जब तक नभोमुद्रा दृढ रूप में बँधी रहती है, तब तक बिन्दु चलायमान नहीं होता ॥६६-६८

व्याख्या—इस नभोमुद्रा का तात्पर्य खेचरी मुद्रा से ही है। अन्य शास्त्रान्तर्गत खेचरी से पृथक् नभोमुद्रा से अभिप्राय नहीं समझना चाहिए। इसमें जिह्वा भी कण्ठमूल के छिद्र रूपी आकाश में स्थित होकर ब्रह्मरन्ध्र में संचित होने वाले अमृत का पान करती है, इसीलिए इस मुद्रा के प्रति श्रद्धा रखते हुए सभी सिद्धजन इसे पूजनीया मानते और नमस्कार करते हैं।

पाँव से शिर पर्यन्त बिन्दु के स्थित रहने का तात्पर्य स्पष्ट है कि बिन्दु शरीर के सर्वांग में रहकर उसे प्राणित करता रहता है और शरीर की सभी नाड़ियाँ बिन्दु से व्याप्त रहकर ही अपने अपने कार्य का संचालन ठीक प्रकार से कर सकती हैं। इसका अर्थ यह भी है कि शरीर के जिस अवयव में बिन्दु (वीर्य)अपने सही अनुपात में नहीं पहुँचता वह अङ्ग निर्बल और निष्प्राण हो जाता है।

खेचरी मुद्रा के अभ्यास से बिन्दु कण्ठनाल की छिद्रलम्बिका में ही रुक जाता है। उस समय योगी पर किसी कामिनी द्वारा आलिंगन किये जाने का भी प्रभाव नहीं पड़ता। बिन्दु की स्थिरता के कारण उस योगी के चित्त में चंचलता नहीं आ पाती।

अथवा यह भी कह सकते हैं कि बिन्दु की स्थिरता या अस्थिरता का कारण मन ही है। योगकुण्डल्युपनिषत् ने यही मत व्यक्त किया है। उसके अनुसार—

मनसोत्पद्यते बिन्दुर्यथा क्षीरं घृतात्मकम्।
न च वन्धनमध्यस्थं तद्वै कारणमानसम्॥

अर्थात्—यह बिन्दु मन से ही उत्पन्न होता है, जैसे कि दूध से घृत की उत्पत्ति होती है। उस बिन्दु में कुछ भी बन्धन नहीं है, वरन् जो कुछ भी बन्धन है, वह सब मन का ही है।

'वायुं बिन्दु तथा चक्रं चित्तं चैव समभ्यसेत्' (यो. कु. उ.) के अनुसार प्राणवायु, बिन्दु, चक्र और चित्त का ठीक प्रकार से अभ्यास करके योगीजन ऐक्य रूपी समाधि तक पहुँच जाते और अमृतत्व को प्राप्त होते हैं।

बिन्दु की स्वस्थान में पुनः स्थिरता

चलितोऽपि यदा बिन्दुः संप्राप्तश्च हुताशनम्।
व्रजत्यूर्ध्वं हृते शक्त्या निरुद्धो योनिमुद्रया॥६९
स पुनर्द्विविधो बिन्दुः पाण्डुरो लोहितस्तथा।
पाण्डुरः शुक्रमित्याहुर्लोहिताख्यो महारजः॥७०
सिन्दूरद्रवसंकाशं नाभिस्थाने स्थितं रजः।
शशिस्थाने स्थितो बिन्दुस्तयोरैक्यं सुदुर्लभम्॥७१

टीका—यदि कभी चित्त की चंचलतावश बिन्दु च्युत होकर नाभिस्थान में पहुँच भी जाय तो योनिमुद्रा के द्वारा कुण्डलिनी शक्ति को ऊपर उठा ले। इससे बिन्दु पुनः अपने स्थान में लौट कर स्थिर हो जायगा। वह बिन्दु दो भाँति का होता है—(१) पाण्डुर वर्ण का और (२) लोहित वर्ण वाला महाराज कहलाता

है। तैल-मिश्रित सिन्दूर के द्रव के समान वह रज नाभिमंडल में स्थित है और चन्द्र स्थान में बिन्दु रहता है। इन दोनों का एक्य अत्यन्त दुर्लभ समझना चाहिए ॥६९-७१

व्याख्या—यह संभव है कि चित्त में किसी प्रकार से विकार उत्पन्न हो जाय और उसके चंचल होने पर बिन्दु अपने स्थान से क्षरित होने लगे। उस समय खेचरी मुद्रा के द्वारा तालु का छिद्र बन्द कर लेने से बिन्दु अपने स्थान पर जा चढ़ेगा।

शास्त्रकार ने शुक्र और रज का भेद बताते हुए कहा है कि शुक्र का रंग श्वेत और रज का रंग लाल होता है। नाभिमण्डल के सूर्य स्थान मे रज का और षोडशाधारचक्र में रज स्थान है। उनका परस्पर मिलना बहुत ही कठिन है।

बिन्दु-रज के ऐक्य से परमपद प्राप्ति

बिन्दुः शिवो रजः शक्तिश्चन्द्रो बिन्दू रजो रविः।
अनयोः संगमादेव प्राप्यते परमं पदम् ॥७२
वायुना शक्तिचारेण प्रेरितं तु यदा रजः।
याति बिन्दोः सहैकत्वं भवेदिव्यं वपुस्ततः ॥७३

सूर्य-चन्द्र का समरसैकत्व

शुक्रं चन्द्रेण संयुक्तं रजः सूर्येण संयुतम्।
तयोः समरसैकत्वं यो जानाति स योगवित् ॥७४
शोधनं नाडिजालस्य चालनं चन्द्रसूर्ययोः।
रसानां शोषणं चैव महामुद्राभिधीयते ॥७५

टीका—बिन्दु शिव है और रज शक्ति अथवा चन्द्रमा बिन्दु और सूर्य रज है। इन दोनों के संयोग से परम शरीर की प्राप्ति होती है। वायु के द्वारा शक्ति का चालन करने से जब रज आकाश को प्ररित होकर बिन्दु के साथ मिल जाता है तब शरीर दिव्य बन जाता है। शुक्र बिन्दु रूपी चन्द्र से युक्त है और रज सूर्य से समन्वित है जो इन दोनों की समरसता को जानता है, वही योग का ज्ञाता है। नाड़ी जाल के शोधनार्थ चन्द्र-सूर्य को संयुक्त किया जाता है। यह रसों का ठीक प्रकार शोषण करने वाली महामुद्रा कहलाती है ।।७२-७५

व्याख्या—बिन्दु को शिव या चन्द्रमा स्वरूप मान कर रज को शक्ति या सूर्य स्वरूप कहा है। इन चन्द्रमा और सूर्य का मिलना कोई साधारण कार्य नहीं है, यह ऊपर कह चुके हैं। परन्तु योगी को तो इनका मिलन कराना ही होता है। यहाँ चन्द्र-सूर्य के मिलन से अभिप्राय प्राणवायु और अपान वायु का ऐक्य करने से है। बिन्दु रूपी शुक्र या चन्द्रमा से और रक्तवर्ण के रज का सूर्य से समरस हो जाना योगी के लिए परमाश्यक है। जो योगी इसे नहीं जानता, वह योग के विषय में कुछ भी नहीं जानता। ऐसा करने पर ही जीवात्मा-परमात्मा का ऐक्य संभव होता है।

प्राण अपान को मिलाने की क्रिया पर पहले प्रकाश डाला जा चुका है। इसी से कुण्डलिनी शक्ति जाग्रत होकर ऊपर चढ़ती हुई शिव से संयुक्त होती है। परन्तु यह क्रिया सुगमता से नहीं हो सकती। इसके लिए पूर्ण जानकारी और पत्पश्चात् अत्यन्त अभ्यास की आवश्यकता होती है। जो लोग केवल पढ़-सुनकर ही इस क्रिया को करने लगते हैं, वे अनेक प्रकार की हानि उठा सकते हैं।

योगाभ्यास में शरीरस्थ मलों का शोधन भी अत्यावश्यक होता है। इसके लिए नाड़ी-शोधन को बहुत महत्व दिया गया है। नाड़ी-शोधन से नाड़ियों में रहने वाले वात, पित्त, कफ की विकृति दूर हो जाती है और चन्द्र-सूर्य का चालन होने से भोजन पानादि का शोषण होता है। अथवा यों कहना चाहिए कि सब भोजन-पानादि इस क्रिया के द्वारा परिपक्वता को प्राप्त होकर शरीर में रम जाते हैं और इस प्रकार भोजन-पानादि से होने वाले विकार रोगी को पीड़ित नहीं करते। ऐसी क्रिया से युक्त होने के कारण ही महामुद्रा को रोगनाशिनी तो कहा ही है, साथ ही 'एषा पातकनाशिनी ननु महामुद्रा नृणां प्रोच्यते (ध्या. वि. उ.) अर्थात् 'इस महामुद्रा को पाप-नाशिनी भी कहते हैं।

उड्डीयान बन्ध

उड्डयानं कुरुते यस्मादविश्रांते महाखगम् ।
उड्डीयानं तदेव स्यान्मृत्युमातङ्गकेसरी ।।७६

उड्डीयान का स्थान

उदरात्पश्चिमे भागे अधो नाभेनिगद्यते ।
उड्डीयानो ह्ययं वन्धस्तव बन्धो निगद्यते ।।७७

टीका—उड्डीयान बन्ध के लिए जैसे महाखग विश्राम करता है, वैसे ही उदर की पश्चिम ताण को नाभि के ऊपर करना चाहिए। उदर से पश्चिम में और नाभि से नीचे इस बन्ध का स्थान बतलाया जाता है।।७६-७७

व्याख्या—उड्डीयान वन्ध के बिषय में अन्य ग्रन्थों में भी कहा है कि नाभि से नीचे ऊपर के भाग को उदर के पीछे इस

प्रकार खींचे जिससे वह उदर में ही लग जाय। योगतत्वोपनिषत् में कहा है—

बन्धों येन सुषुम्नायां प्राणस्तूडडीयते यतः।
उड्चणाख्यो हि बन्धोऽयं योगिभिः समुदाहृतः॥

अर्थात्—जिससे बँधा हुआ प्राण सुषुम्ना में उठ जाय, उसे योगीजन उड्डायानबन्ध कहते हैं।

जालन्धर बन्ध

वध्नाति हि शिरोजालं नाधो याति नभोजलम्।
ततो जालंधरों बन्धोः कण्ठदुःखौघनाशनः॥७८
जालंधरे कृते बन्धे कण्ठसंकोचलक्षणे।
न पीयूष पतत्यग्नौ न वायुः प्रकुप्यति॥७९

टीका—जो बन्ध कण्ठदेश में होता और शिरोजाल का बन्धन करता हुआ चन्द्रामृत रूप जल कपाल कुहर से नीचे गिरने से रोकता है, वह दुःखों और रोगों का नाश करने वाला जालन्धर बन्ध होता है। कण्ठ को संकुचित कर वायु को रोकना ही जालन्धर बन्ध माना गया है। इससे चन्द्रामृत गिरकर अग्नि में पड़ने से रुका रहता है। इस बन्ध के अभ्यास से वायु का प्रकोप नहीं हो पाता।

व्याख्या—कण्ठ का संकोच करके प्राणवायु का अवरोध करना ही इस बन्ध की प्रमुख क्रिया है। योगतत्वोपनिषत् के अनुसार—

कण्ठमाकुञ्च्य हृदये स्थापयेद्दृढ़या धिया।
बन्धोजालन्धराख्योऽयं मृत्युमातंगकेसरी॥

अर्थात्—कण्ठ को सिकोड़ कर दृढ़ता पूर्वक छाती पर रखने से जालन्धर बन्ध होता है, जोकि मृत्यु रूपी हाथी के लिए सिंह के समान है।

हठयोगप्रदीपिका में भी इसी प्रकार के भाव व्यक्त किये गये हैं। यथा—

कण्ठमाकुंच्य हृदये स्थापयेच्चिबुकं दृढ़म्।
बन्धो जालन्धराख्योऽयं जरामृत्युविनाशकः॥

अर्थ—उपर्युक्त के समान है, केवल 'मृत्युमातंगकेसरी' के स्थान पर 'जरामृत्यु विनाशक' कहने भर का परिवर्तन है।

मूलबन्ध

पार्ष्णिभागेन संपीड्य योनिमाकुञ्चयेद्गुदम्।
अपानमूर्ध्वमाकृष्य मूलवन्धो विधीयते ॥८०
अपानप्राणयौरैक्यात् क्षयो मूत्रपुरीषयोः।
युवा भवति वृद्धोऽपि सततं मूलबन्धनात् ॥८१

टीका—अपान वायु को ऊपर की ओर खींचकर प्राणवायु से मिलावे और पाँव की एड़ी से योनिस्थान को दृढ़ता से दबा कर गुह्यद्वार को सिकोड़े, यह मूलबन्ध कहलाता है। इस प्रकार जो साधक अपना और प्राणवायु को मिलाने के अभ्यास में लगा रहता है, उसके मूत्र और मल नष्ट हो जाते हैं। यदि वह वृद्ध हो तो युवा हो जाता है ॥८०-८१

व्याख्या—प्राण और अपान को मिलाने से मूलबन्ध होता है, यह सामान्य सिद्धान्त है। योगतत्वोपनिषत् के अनुसार इस क्रिया का नाम योनिबन्ध भी है। उसमें इसका वर्णन इस प्रकार मिलता है—

पार्ष्णिभागेन सम्पीड्य योनिमाकुञ्चयेद्दृढम् ।
अपानमूर्ध्वमत्थाप्य योनिबन्धोऽयमुच्यते ॥
प्राणापानौ नादबिन्दु मूलबन्धेन चैकताम् ।
गत्वा योगस्य संसिद्धि यच्छतो नात्र संशयः ॥

अर्थात्—एड़ी के द्वारा योनि स्थान को दबाकर भीतर की ओर खींचे। इस प्रकार अपान वायु को ऊपर की ओर उठाकर प्राणवायु से मिलने पर योनिबन्ध होना कहलाता है। इस भाँति प्राण, अपान, नाद और बिन्दु में मूलबन्ध के द्वारा एकता प्राप्त होती है। यह योग निःसंदेह सिद्धि के प्राप्त कराने वाला है।

शिव संहिता में भी मूलबन्ध को जरा-मरण नाशक और योनिमुद्रा को सिद्ध करने वाला कहा गया है—

पादमूलेन संपीड्य गुदमार्गेषु यन्त्रितम् ।
बलादपानमाकृष्य क्रमादूर्ध्वं सुचारयेत् ॥
कल्पितोऽयं मूलबन्धो जरामरणनाशनः ।
अपान प्राणयोरैक्यं प्रकरोत्यधिकल्पितम् ॥
बन्धेनानेन सुतरां योनिमुद्रा प्रसिद्ध्यति ।
सिद्धायां योनिमुद्रायां किं न सिध्यति भूतले ।
बन्धस्यास्य प्रसादेन गगने विजितानिलः ॥

अर्थात्—एड़ी से गुह्यमार्ग को आकुंचित करके पीड़ित करे और बलपूर्वक अपान वायु को आकर्षित करके ऊपर की ओर चढ़ाने से यह मूलबन्ध जरा-मृत्यु को नाश करने वाला है। इस प्रकार कल्पित हुए बंध से अपान और प्राण को एक करे तो मूलबन्ध के द्वारा योनिमुद्रा स्वयं ही सिद्ध हो जाती है और योनिमुद्रा के सिद्ध होने पर सिद्ध पुरुषों का इस जगत् में क्या सिद्ध नहीं हो सकता ? इस मूलबन्ध के प्रभाव से योगी वायु को जीतकर आकाश गमन की शक्ति प्राप्त कर लेता है।

प्रणवाभ्यास

पद्मासनं समारुह्य समकायशिरोधरः ।
नासाग्रदृष्टिरेकान्ते जपेदोङ्कारमव्ययम् ।।८२
भू र्भुवःस्वरिमे लोकाः सोमसूर्याग्निदेवताः ।
यस्य मात्रासु तिष्ठन्ति तत्परं ज्योतिरोमिति ।।८३

टीका—एकान्त स्थान में दृढ़ता पूर्वक पद्मासन लगा कर अपने शरीर, कण्ठ और शिर को समान स्थिति में रखे तथा दृष्टि को नासिका के अग्रभाग में स्थिर करके ओंकार स्वरूप अव्यय ब्रह्म का जप करना चाहिए। जिसके तीन वर्णों में भू भुवः स्वः इन तीनों लोकों और चन्द्र, सूर्य अग्नि देवताओं का निवास है, वह ओंकार परमज्योतिस्वरूप है ।।८२-८३

व्याख्या—पद्मासन लगाकर शरीर, कण्ठ और शिर इत्यादि सभी अङ्गों को समान स्थिति में रखने से अभिप्राय है कि उन्हें स्वाभाविक अर्थात् सहज अवस्था में रखना चाहिए। क्योंकि अस्वाभाविक अवस्था में शरीर का जो कष्ट होता है, उससे साधना में चित्त नहीं लग पाता।

ब्रह्म प्रणव रूप है। उसकी तीनों मात्राओं में तीनों लोक और सूर्य, चन्द्र, अग्नि विद्यमान रहते हैं। ब्रह्मविद्योपनिषद् में ओंकार के सूर्य, चन्द्र, अग्नि मानने का कारण भी स्पष्ट बताया गया है—

सूर्यमण्डल मध्येऽथ ह्यकारः शंखमध्यमः ।
उकारचन्द्रसंकाशस्तस्य मध्ये व्यवस्थितः ।।
मकारस्त्वग्निसंकाशो विधूमो विद्युतोपमः ।
तिस्रो मातास्तथाज्ञेयाः सोमसूर्याग्निरूपिणः ।।

अर्थात्—शंख के मध्य का 'अकार' सूर्यमण्डल में स्थित है, चन्द्र के समान 'उकार' चन्द्रमा में ही रहता है और निर्धूम अग्नि तथा विद्युत 'मकार' के समान हैं। इस प्रकार ओंकार की तीनों मात्राओं को चन्द्र, सूर्य; और अग्नि रूप जानना चाहिए।

त्रयः कालास्त्रयो वेदास्त्रयो लोकास्त्रःस्वरा।
त्रयो देवाः स्थिता यत्र तत्परं ज्योतिरोमिति ॥८४
इच्छा, ज्ञानं क्रियाचैव ब्राह्मी, रौद्री च वैष्णवी।
त्रिधाःशक्ति स्थिता यत्र तत्परं ज्योतिरोमिति।८५
अकारश्च उकारश्च मकारो बिन्दुसंज्ञकः।
त्रिधा मात्रा स्थिता यत्रतत्परं ज्योतिरोमिति।८६

टीका—उस ओंकार में तीन काल, तीन वेद, तीन लोक, तीन स्वर और तीन देवता स्थित हैं। वह परम ज्योति स्वरूप हैं। उसी में क्रिया, इच्छा, ज्ञान और ब्रह्मी, रौद्री, वैष्णवी यह तीनों शक्ति स्थित हैं, वह परमज्योति स्वरूप है। अकार, उकार और बिन्दुरूप मकार यह तीनों मात्राएँ जिसमें स्थित हैं, वह ओंकार ज्योतिस्वरूप हैं ॥८४-८६

व्याख्या—ओंकार में सभी कुछ निहित हैं। वह परम-ज्योति स्वरूप ब्रह्म है। कार्य से उसकी ब्राह्मी आदि तीन शक्तियाँ क्रिया, इच्छा और ज्ञान स्वरूप मानी जाती हैं। ब्रह्मविद्योपनिषत् में भी इसका विस्तृत विवरण उपलब्ध होता है—

ओमित्येकारं ब्रह्म यदुक्तं ब्रह्मवादिभिः।
शरीरं तस्य वक्ष्यामि स्थान कालत्रयं तथा॥

तत्रदेवास्त्रयः प्रोक्ता लोका वेदास्त्रयोऽग्नयः ।
तिस्रो मात्रार्धमात्रा च त्र्यक्षरस्य शिवस्य तु ।।
ऋग्वेदो गार्हपत्यं च पृथिवी ब्रह्म एव च ।
अकारस्य शरीरं तु व्याख्यातं ब्रह्मवादिभिः ।।
यजुर्वेदोऽन्तरिक्षं च दक्षिणाग्निस्तथैव च ।
विष्णुश्च भगवान्देव उपकारः परिकीर्तितः ।
सामवेदस्तथा द्यौश्चाहवनीयस्तथैव च ।
ईश्वरः परमो देवो मकारः परिकीर्तितः ।।

अर्थात्—ब्रह्मवादियों ने जिस ब्रह्म को ओंकार के अक्षर रूप में कहा है, उसके शरीर स्थान और तीन काल का वर्णन करता हूँ। उसमें तीन देवता, तीन लोक, तीन बेद और तीन अग्नियाँ हैं, उस शिव स्वरूप अक्षर की तीन और आधी मात्राएँ अर्थात् साढ़े तीन मात्राएँ हैं। ब्रह्मवादियों ने 'आकार' का शरीर ऋग्वेद, गार्हपत्य अग्नि, पृथिवी तत्व और ब्रह्म कहा है 'उकार' का शरीर यजुर्वेद अन्तरिक्ष (आकाश तत्व) दक्षिणाग्नि और भगवान् विष्णु को माना है तथा 'मकार' का शरीर सामवेद, स्वर्ग, आवाहनीय अग्नि और परमेश्वर (शिव) बताया है।

ब्रह्म की तीन शक्तियाँ है–इच्छा शक्ति, क्रिया-शक्ति और ज्ञान शक्ति, वे तीनों ब्राह्मी, रौद्री और वैष्णवी स्वरूप हैं। उन्हीं से इस संसार की उत्पत्ति, प्रलय एवं स्थिति होती है। यह शक्तियाँ ही ब्रह्मस्वरूपिणी और प्रकृति पुरुषात्मक हैं। देवी स्वयं कहती हैं—'अहं ब्रह्मस्वरूपिणी, मत्तः प्रकृति पुरुषात्मक जगच्छून्यं च' अर्थात् 'मैं ही ब्रह्मस्वरूपिणी हूँ यह प्रकृति पुरुषात्मक जगत् मुझसे ही उत्पन्न हुआ है।' इस प्रकार शक्ति सब जगत् की नियामक और प्रणव स्वरूपिणी सिद्ध होती है।

वचसा तज्जपेद्बीजं वपुषा तत्समभ्यसेत् ।
मनसा तत्स्मरेन्नित्यं तत्परं ज्योतिरोमिति ॥८७
शुचिर्वाप्यशुचिर्वापि योजयेत्प्रणवं सदा ।
न सा लिप्यति पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥८८

टीका—जगत् का कारक मानते हुए प्रणव का वाणी से जप करे और शरीर से आसनादि का अभ्यास करता हुआ मन से उसी परमज्योति स्वरूप ब्रह्मका नित्य प्रति स्मरण करता रहे। बाह्य शौच से युक्त हो या अशौच हो तो भी यदि ओंकार का जप करता रहे तो जैसे जल से कमल पत्र लिप्त नहीं होता, वैसे ही साधक पापों से लिप्त नहीं होता ॥८७-८८

व्याख्या—ब्रह्म ही जगत् का कारण है और प्रणव ब्रह्म का ही स्वरूप है, उसका मन, वचन, कर्म से स्मरण, जप और पूजनादि करना ही कल्याणकारी है। मन से स्मरण करना मानसिक चिन्तन कहलाता है। यह बहुत प्रभावकारी समझना चाहिए। चलते, बैठते, खाते, बोलते अर्थात् सभी कार्य कलापों के समय प्रणव का या ब्रह्म का ध्यान करते रहना अवश्य ही मोक्षदायक है।

मानसिक चिन्तन को दृढ़ करने के लिए मन का निरोध बहुत आवश्यक है, इसीलिए ज्ञानीजनों की मान्यता है कि—

तावदेव निरोद्धव्यं यावद्धृदि गतं क्षयम् ।
एतज्ज्ञानञ्च ध्यानञ्च शेषेऽत्यो ग्रन्थविस्तरः ॥

अर्थात्—जब तक वासनाएँ नष्ट न हो जाँय, तब तक मन का निरोध करना चाहिए। यही ज्ञान है, यही ध्यान है और शेष सब तो ग्रन्थों का विस्तार मात्र ही हैं।

वाणी से जप करने का महत्व भी कम नहीं है। इससे सहज में ही चित्त एकाग्र हो जाता है। श्रीकृष्ण ने गीता में 'यज्ञानां जपयज्ञोस्मि कह कर यज्ञों में स्वयं को ही जप यज्ञ बताया है। मनुस्मृति में भी जप-यज्ञ की महिमा स्वीकार करते हुए उसे कर्मकाण्ड युक्त यज्ञों की अपेक्षा अत्यन्त महत्वपूर्ण कहा गया है।

विधियज्ञाज्जपयज्ञो विशिष्टो दशभिर्गुणैः।
उपांशुः स्याच्छतगुणः साहस्रो मानसः स्मृतः ॥

ये पाकयज्ञाश्चत्वारो विधियज्ञसमन्विताः।
सर्वे ते जपयज्ञस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम् ॥

—मनु० २।८५-८६

अर्थात्—विधियज्ञ (दर्शपौर्णमासि कर्म-यज्ञ) से जप यज्ञ (प्रणवादि का जप) दस गुना अधिक फल देने वाला है और उपांशु जप (जिसमें ओष्ठ और जीभ के चलते हुए भी शब्द सुनाई न दे) सोगुना श्रेष्ठ है तथा मानस जप सहस्रगुना प्रभावकारी है। जो चार पाकयज्ञ कहे हैं अर्थात् पितृयज्ञ, हवन, बलिवैश्यदेव कर्म आदि विधियज्ञ के बराबर है, परन्तु वे जप-यज्ञ के सोलहवें अंश के बराबर नहीं हैं।

'वपुषा तत्समभ्यसेत्' कह कर ग्रन्थकार ने आसनादि के अभ्यास की ओर संकेत किया है। योग के अंगों में आसन का स्थान भी महत्वपूर्ण माना गया है, परन्तु वे निरन्तर अभ्यास से ही सिद्ध होकर श्रेयस्कर बनते हैं।

वायुनिरोधभ्यास

चले वाते चलो बिन्दुर्निश्चले निश्चलो भवेत्।
योगी स्थाणुत्वमाप्नोति ततों वायुं निरुद्धयेत् ॥८६

यावद्वायुः स्थितो देहे तावज्जीवं न मुञ्चति ।
मरणं तस्य निष्क्रान्तिस्ततो वायुं निरोधयेत् ॥९०

यावद्बद्धो मरुद्देहे यावच्चित्तं निरामयम् ।
यावद्दृष्टिर्भ्रुवोर्मध्ये तावत्कालभयं कुतः ॥९१

अतः कालभयाद्ब्रह्मा प्राणायामपरायणः ।
योगिनो मुनयश्चैव ततो वायुं निरोधयेत् ॥९२

टीका—प्राणवायु के चंचल होने पर बिन्दु भी चंचल रहता है और प्राणवायु के निश्चल रहने पर बिन्दु भी चलायमान नहीं होता । प्राणवायु की स्थिरता में ही स्थाणुता संभव है,इस लिए प्राणवायु का निरोध करे । शरीर में जब तक वायु स्थित रहता है, तब तक शरीर नहीं छूटता । प्राणवायु के शरीर से निकल जाने पर ही मरण होता है, इसलिए प्राणवायु के निरोध का अभ्यास अवश्य करना चाहिए । जब तक प्राण का निरोध किया जाता है, तब तक चित्त भी स्वस्थ रहता है और जब तक दृष्टि भौंहों के मध्य में स्थिर है तब तक काल का भय कहाँ है? इसीलिए काल के भय से बचने के उद्देश्य से ब्रह्माजी प्राणायामपरायण रहते हैं और सभी योगी, मुनि आदि प्राण के निरोध में प्रयत्नशील रहते हैं ॥८९-९१

व्याख्या—जीवन तभी तक रहता है जब तक कि शरीर में प्राण रहते हैं । प्राण के निकलते ही शरीर को मृत कहा जाता है । इसीलिए शास्त्रों ने प्राण को शरीर का नियामक मानकर सब लोकों को उसी के आश्रित बताया है । —यथा

प्राणोऽपि भगवानीशः प्राणो विष्णुः पितामहः ।
प्राणेन धार्यते लोकः सर्वं प्राणमयं जगत् ।।

अर्थात्—प्राण ही भगवान् शिव है, प्राण ही विष्णु और पितामह ब्रह्म है । सब लोकों को प्राण ने ही धारण कर रखा है, इसलिए यह सम्पूर्ण संसार ही प्राणमय है ।

परन्तु यदि प्राण को वश में किया जा सके तो मृत्यु पर विजय प्राप्त की जा सकती है । उसके लिए प्राण-निरोध का अभ्यास आवश्यक है । जो योगी योगाभ्यास में सदा लगे रहते हैं, उनके लिए मृत्यु का भय नहीं रहता, क्योंकि जिसने अभ्यास द्वारा प्राण को जीत लिया, उसने मृत्यु पर ही विजय प्राप्त कर ली ।

मृत्यु के भय से देवता, दैत्य मनुष्यादि कोई भी अछूता नहीं है । परन्तु प्राणायाम-परायण के लिए वह पीड़ित नहीं कर सकता । इसीलिए ब्रह्माजी का भी प्राणायाम में तत्पर रहना कहा है । सारांश यह है कि प्राणायाम के अभ्यास में तत्पर पुरुषों को रोग एवं जरा-मरण का भय नहीं रहता ।

प्राणापान वायु रूप हंस

षट्त्रिंशदंगुलो हंसः प्रयाणं कुरुते बहिः ।
वामे दक्षिणमार्गेण ततः प्राणोऽभिधीयते ।।९३
शुद्धिमेति यदा सर्वनाडीचक्रं मलाकुलम् ।
तदैव जायते योगी प्राणसंग्रहणे क्षमः ।।९४

टीका—प्राणायाम रूप हंस वाम और दक्षिण मार्ग से छत्तीस अंगुल बाहर निकलता है इसलिए वायु को ही प्राण कहते हैं ।

मल से भरी हुई नाड़ियों के चक्र का शोधन प्राणायाम से होता है। इसलिए योगी को प्राणवायु के ग्रहण करने का अभ्यास करना चाहिए ॥९३-९४

व्याख्या—प्राण-अपान रूपी वायु नासिका के बाँये-दाँये छिद्रों से इडा-पिंगला नाड़ियों के द्वारा छत्तीस अंगुल तक बाहर निकलता है। यदि उससे अधिक दूर निकल जाय तो उसका लौटना कठिन है और यदि न लौटे तो शरीर का मर जाना भी निश्चित ही है। इसीलिए वायु को विद्वानों ने 'प्राण' संज्ञा दी है।

प्राण को हंस भी कहा है। प्राण हंस का साथी है, उसमें पारस्परिक ऐक्य है। यथार्थ में तो हंस का अर्थ है आत्मा। जब आत्मा शरीर को छोड़ता है, तब प्राण को भी शरीर छोड़ना होता है। इसीलिए विद्वानों ने हंस और प्राण को एक ही मान लिया है। जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, तुरीय आदि अवस्थाएँ हंस की ही हैं। हँसोपनिषत् में इसे इस प्रकार से स्पष्ट किया गया है, जो कि मुमुक्षुओं के लिए मनन योग्य है—

तस्याष्टधा वृत्तिर्भवति, पूर्वदले पुण्ये मतिः। आग्नेये निद्रालस्यादयो भवन्ति। याम्ये क्रौर्ये मतिः नैऋते पापे मनीषा, वारुण्यां क्रीड़ा, वायव्याँ गमनादौ बुद्धिः सौम्ये रतिप्रीती ईशान्ये द्रव्यादानम्, मध्ये वैराग्यम्। केसरे जाग्रदवस्था, कर्णिकायां स्वप्नम्। लिंगे सुषुप्तिः पद्मत्यागे तुरीयम्। यदा हंसोनादे विलीनो भवति तत् तुरीयातीतम्। अथो नाद आधाराद् ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्तं शुद्ध स्फटिकसंकाश स वै ब्रह्म परमात्येत्यु च्यते।

अर्थात्–हंस की आठ प्रकार की वृत्ति होती है। पूर्व दिशाके पत्र पर रहता है तब उसकी मति पुण्य में होती है। आग्नेय दिशा

के पत्र पर होता है तब निद्रा और आलस्य रहता है। दक्षिण दिशा के पत्र होता है तब क्रूर-कर्मों में मति होती है। नैऋत दिशा के पत्र पर पाप कर्म में मन लगता है। पश्चिम दिशा वाले पत्र पर रहता है तब क्रीड़ा में और वायव्य दिशा के पत्र पर होने से चलने फिरने की बुद्धि होती है उत्तर दिशा के पत्र पर होता है तब रति-क्रिया में प्रीति होती है। ईशान दिशा के पत्र पर बैठने से द्रव्य लेने की प्रवृत्ति होती है। और मध्य स्थान में बैठता है तब संसार से वैराग्य की बुद्धि होती है। जब हृदय के कमल-केसर पर आसानी होती है तब जाग्रत अवस्था होती है। कर्णिका पर बैठता है तो स्वप्नावस्था और मध्य भाग के स्थान पर होता है तब सुषुप्ति अवस्था होती है जब हृदय कमल को छोड़ देता है तब तुरीय अवस्था में होता है और जब नाद में लीन होता है तब तुरीयातीत अवस्था में पहुँच जाता है। नीचे के आधार चक्र से ब्रह्मरन्ध्र पर्यन्त जो नाद होता है, वह शुद्ध स्फटिक के समान पर ब्रह्म परमात्मा कहलाता है।

नाडीशोधनप्राणायाम

बद्धपद्मासनो योगी प्राणं चन्द्रेण पूरयेत्।
धारयित्वा यथाशक्ति भूयः सूर्येण रेचयेत् ॥९५

चन्द्राङ्ग प्राणायाम का फल

अमृतदधिसंकाशं गोक्षीरधवलोपमम्।
ध्यात्वा चन्द्रमसो बिम्बं प्राणायामी सुखी भवेत्।९६

सूर्याङ्ग प्राणायाम

दक्षिणे श्वासमाकृष्य पूरयेदुत्तरं शनैः।
कुम्भयित्वा विधानेन पुरश्चन्द्रेण रेचयेत् ॥९७
प्रज्वलज्ज्वलनज्वालापुञ्जमादित्यमण्डलम् ।
ध्यात्वा नाभिस्थितं योगी प्राणायामी सुखी
भवेत् ॥९८

टीका—बद्ध पद्मासन लगाकर चन्द्र नाड़ी से पूरक करे यथा शक्ति कुम्भक करके सूर्य नाड़ी द्वारा रेचक करे। फिर श्वेत वर्ण के दही दूध के समान अमृत स्वरूप चन्द्र बिम्बका ध्यान करने से प्राणायाम करने वाला सुखी होता है। दक्षिण नासा रन्ध्र से श्वास खींचकर धीरे-धीरे पूरक करे और विधान पूर्वक कुम्भक करके वायु को चन्द्र नाड़ी से निकाल दे। इस प्राणायाम में कुम्भक के समय दैदीप्यमान अग्निपुंज के समान सूर्य मण्डल का ध्यान अपनी नाभि में करने वाला प्राणायामी सुखी होता है ॥९५-९८

व्याख्या—चन्द्रनाड़ी का अर्थ इडा अथवा वाम नासिका है और सूर्यनाड़ी पिंगला या दक्षिण नासिका को कहते हैं। बद्ध पद्मासन लगाकर बाम नासिका से पूरक और दक्षिण नासिका से रेचक प्राणायाम करना चाहिए। उस समय धवल वर्ण के चन्द्रमा का ध्यान किया जाय। तत्पश्चात् इसका विपरीत क्रम करे अर्थात् दक्षिण नासिका से पूरक और वाम से कुम्भक करे। इस सूर्य-अङ्ग सम्बन्धी प्राणायाम में सूर्य का ध्यान करना चाहिए। त्रिशिखब्रह्मणोपनिषत् में कहा है—

हस्तेन दक्षिणेनैव पीडयेन्नासिकापुटम् ।
शनैशनैरथ बहिः प्रक्षिपेत्पिंगलानिलत् ॥

इडया वायुमापूर्य ब्रह्मन्षोडशमात्रया ।
पुरितं कुंभयेत्पश्चाश्चतुः षष्ट्या तु मात्रया ।
द्वात्रिशन्मात्रया सम्यग्रेचयेत्पिगलानिलम् ।।
एवं पुनः पुनः कार्यं व्युत्क्रमानुमेण तु ।
सम्पूर्णकुम्भद्देहं कुम्भयेन्मातरिश्वना ।।
पूरणान्नाडयः सर्वाः पूर्यन्ते मातरिश्वना ।
एवं कृते सति ब्रह्मश्चरन्ति दश वायवः ।।

अर्थात्—दक्षिण हाथ से नासा पुटों को दबाकर दांये कर नासापुट से वायु को बाहर निकाले और फिर सोलह मात्रा से वायु को भीतर खींचकर चौंसठ मात्रा से कुम्भक करे और बत्तीस मात्रा से उस वायु को पिङ्गला द्वारा बाहर निकाल दे। इस प्रकार बार-बार क्रम और विपरीत क्रम करता हुआ शरीर के भीतर वायु भर कर उसे कुम्भक के समान रोके। इससे सब नाडियाँ वायु से भर जाती हैं और उनमें दसों वायु ठीक प्रकार से चलने लगती है।

नाड़ी-शोधन के लिए बद्ध पद्मासन लगाकर बैठने का विधान है, इसलिए बद्ध पद्मासन के स्वरूप का वर्णन भी आवश्यक है। त्रिशिखब्रह्मणोपनिषत् के ही अनुसार पद्मासन में आकार परिवर्तन से बद्ध पद्मासन होता हैं इसलिए दोनों आसनों के विषय में ही बता देना उचित है—

ऊर्वोरुपरि वै धत्ते यदा पादकले उभे ।
पद्मासनं भवेदेतत्सर्वव्याधिविषापहम् ।।
पद्मासनं सुसंस्थाप्य तदंगुष्ठद्वयं पुनः ।
व्युत्क्रमेणैव हस्ताभ्यां बद्धपद्मासनं भवेत् ।।

अर्थात्—दोनों जाँघों पर दोनों पाँव के तलुबों को रखकर बैठने से सब व्याधियों और विषों का नाशक पद्मासन होता है।

पद्मासन ठीक प्रकार लगाकर बैठे और दाँये से बाँये पाँव के अँगूठे को तथा बाँये हाथ से दाँये पाँव के अँगूठे को पकड़े। यह बद्धपद्मासन कहलाता है।

प्राणश्चेदिडया पिबेत्परिमितं भूयोऽन्यया रेचयेत्
पीत्वा पिङ्गलया समीरणमथो बद्ध्वा त्यजेद्वामया।
सूर्याचन्द्रमसोरनेन विधिना बिम्बद्वयं ध्यायतां
शुद्धा नाडिगणा भवन्ति यमिनां मासत्रयादूर्ध्वतः
॥९९

नाड़ी शोधन का फल कथन

यथेष्टं धारणं वायोरनलस्य प्रदीपकम्।
नादादिव्यक्तिरारोग्यं जाते नाडि शोधने ॥१००

टीका—बाँयी नासिका से प्राणवायु को खींचकर पूरक चन्द्रमण्डल के ध्यान से कुम्भक और दाँयी नासिका से रेचक करे। फिर दाँयी नासिका से प्राणवायु खींचकर सूर्य मण्डल के ध्यान से कुम्भक और बाँयी नासिका से रेचक करे। इस प्रकार सूर्य और चन्द्र की विधि से दोनों बिम्बों का ध्यान करता हुआ योगी अभ्यास में तत्पर रहे तो सभी नाड़ियाँ तीन महीने के पश्चात् शुद्ध हो जाती हैं। जब नाड़ियाँ शुद्ध हो जाती है। तब प्राणवायु के धारण की सामर्थ्य उत्पन्न हो जाती हैं। जठराग्नि प्रदीप्त होकर आरोग्य की प्राप्ति होती है और नाद स्पष्ट सुनाई देने लगता है ॥९९-१००

व्याख्या—नाड़ी शोधन के लिये पूरक और रेचक के व्युत्क्रम का अभ्यास आवश्यक है। प्राणायाम का अभ्यास करने में सबसे पहिले नाड़ी की ही शुद्धि करनी चाहिये। उससे जो उपलब्धियाँ होती हैं, उसके विषय में हठयोग प्रदीपिका में लिखा है—

यदा तु नाडी शुद्धिः स्यात्तथा चिह्नानि बाह्यतः।
कायस्य कृशता कान्तिस्तदा जायेत निश्चितम्॥

अर्थात्—जब नाड़ी-शुद्धि हो जाती है तब यह बाह्य लक्षण प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं, काया कृश हो जाती है और शरीर कान्तिमय हो जाता है, यह निश्चित है।

❀ गोरक्ष-संहिता का प्रथम शतक समाप्त ❀

—×—

द्वितीय शतक

प्राणायाम वर्णन

प्राणदेहे स्थितो वायुरपानस्य निरोधनात् ।
एकश्वसनमात्रेणोद्घाट्येद्गगने गतिम् ॥१
रेचकः पूरकश्चैव कुम्भकः प्रणवात्मकः ।
प्राणायामो भवेत्त्रेधा मात्राद्वादशसंयुतः ॥२

टीका—शरीर में स्थित प्राणवायु और अपान-वायु निरोध से एक श्वास मात्र को सुषुम्ना मार्ग खोलकर चिदाकाश में उठावे । रेचक, पूरक और कुम्भक प्रणवात्मक है । बारह मात्रा युक्त प्राणायाम तीन प्रकार का होता है ॥१०२

व्याख्या—पहले भी बता चुके हैं कि प्राणवायु शरीर के उर्ध्व भाग में अपान वायु अधोभाग मूलाधार में रहता है । उस अपान वायु एक ही श्वास में ऊपर उठकर रोकनी चाहिए । तब वह रुका हुआ वायु सुषुम्ना मार्ग को खोलकर ऊपर की ओर चढ़ता हुआ प्राणवायु से मिलता है यह प्राणायाम अधिक कष्टसाध्य या कठिन नहीं है ।

प्राणायाम की तीन क्रिया मानी जाती हैं-रेचक, पूरक और कुम्भक । इनके बाहर से वायु को भीतर खींचना पूरक और वायु को भीतर ही रोके रखना कुम्भक कहलाता है । उस रुके हुए वायु को निकाल देना रोचक है ।

प्राणायाम को प्रणवात्मक इसलिए मानते हैं कि वह प्रणव-जप का प्रतीक है । पूरक क्रिया में आकार का स्मरण करता

हुआ साधक बारह बार प्रणव का जप करे। कुम्भक क्रिया अर्थात् वायु को शरीर में रोकर उकार का स्मरण करता हुआ सोलह बार जप और रेचक क्रिया में मकार का ध्यान करते हुए दस बार प्रणव का जप करना चाहिए। यह एक प्राणायाम हुआ इसमें पूरक चन्द्रनाड़ी से और रेचक सूर्यनाड़ी से किया जाता है, त्रिशिखब्राह्मणोपनिषत् में कहा है—

बध्वा प्रागासनं विप्र ऋजुकायः समाहितः।
नासाग्रन्यस्तनयो दन्तैर्दन्तानसंस्पृशन् ॥
रसनाँ तालुनि न्यस्य स्वस्थचित्तो निरामयः।
आकुंचितशिरः किंचिन्नबध्नन्योगमुद्रया ॥
हस्तौ यथोक्त विधिना प्राणायामं समाचरेत्।
रेचनं पूरणं वायोः शोधनं रेचनं तथा ॥

अर्थात्—पहले आसन लगाकर शरीर को सीधा रखे और नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि को स्थिर कर ले। फिर दाँतोंको दाँतों से स्पर्श न करते हुए जीभ को तालु में रखकर स्वस्थचित्त और निरामय भाव से शिर का आकुंचन करके योगमुद्रा बाँध कर विधिवत् प्राणायाम करना चाहिए। इसमें रेचक, पूरक, वायु-शोधन और पुनः रेचन किया जाता है।

द्वितीय नाड़ी-शोधन प्राणायाम

मात्राद्वाध्दशसंयुक्तौ दिवाकरनिशाकरौ।
दोषजालमपन्तौ ज्ञातव्यौयोगिभिः सदा ॥२

टीका—प्राण-अपान को संयुक्त करके प्रणव की बारह मात्राओं से पूरक करना चाहिए। इससे सभी दोषों का शोधन हो जाता है, यह योगियों के लिए सदा ज्ञातव्य है ॥३

व्याख्या—प्राणापान को उपर्युक्त विधि से मिलाकर पूरक, कुम्भक, रेचक करने से नाड़ी-शोधन होता है। इसमें बारह मात्राओं से पूरक, सोलह मात्राओं से कुम्भक और दस मात्राओं से रेचक किया जाता है।

यहाँ नाड़ी-शोधन प्राणायाम का पुनः कथन इसलिए किया गया है कि प्राणायाम के अभ्यास काल में समय आदि की अपूर्णता होने से शुद्ध हुई नाड़ी पुनः मलिन हो जाती है। इस लिए योगाभ्यासियों को जब-जब वैसी अनुभूति हो, तब तब नाड़ी-शोधन क्रिया द्वारा शुद्धि कर लेनी चाहिए।

त्रिविधि प्राणायाम

पूरके द्वादशी कुर्यात्कुम्भके षोडशी भवेत्।
रेचके दश ओंकाराः प्राणायामः स उच्यते ॥४
प्रथमे द्वादशी मात्रा मध्यमे द्विगुणा मता।
उत्तमे त्रिगुणा प्रोक्ता प्राणायामस्य निर्णयः ॥५
अधमे चोद्यते धर्मः कम्पो भवति मध्यमे।
उत्तिष्ठत्युत्तमे योगी ततो वामुं निरोधयेत् ॥६

टीका—पूरक में प्रणव की बारह, कुम्भक में सोलह और रेचक में दस मात्राएँ, यह प्राणायाम अधम है। मध्यममें इससे दुगुनी मात्राएँ और उत्तम में तिगुनी मात्राएँ होती हैं। अधम प्राणायाम में पसीना आता है, मध्यम में कम्प होता है और उत्तम में योगी ऊपर उठता है। इसलिए प्राणायाम का अभ्यास करे ॥४-७

व्याख्या—अधम प्राणायाम में पूरक करते समय प्रणव की बारह, कुम्भक में सोलह और रेचक में दश मात्राओं का जप किया जाता है। मध्य प्राणायाम में पूरक से चौबीस, कुम्भक में बत्तीस और रेचक में बीस मात्राएँ जपनी चाहिए। उत्तम प्राणायाम में पूरक छत्तीस मात्राओं का, कुम्भक चौंसठ का और रेचक चालीस मात्राओं का होता है।

अधम, मध्यम और उत्तम के भेद से प्राणायाम की तीन श्रेणियाँ प्राय: सभी योगशास्त्रों में मान्य की गई हैं। त्रिशिख ब्राह्मणोपनिषत् में कहा है—

> प्रस्वेदुजननं यस्तु प्राणायामेषु सोऽधमः ।
> कम्पन वपुषो यस्य प्राणायामेषु मध्यमः ।।
> उत्थानं वपुषो यस्य स उत्तम उदाहृतः ।।
> अधमे व्याधिपापानां नाशः स्यान्मध्यमे पुनः ।
> पापरोग महाव्याधि नाशः स्यादुत्तमः पुनः ।।
> अल्पमूत्रोऽल्पविष्ठश्च लघुदेहो मिताशनः ।
> षत्विन्द्रियः पदुमतिः कालत्रयविदात्मवान् ।।

अर्थात्—जिस प्राणायाम में पसीना आता है वह अधम है, जिसमें शरीर में कँपकँपी होती है वह मध्यम है और जिसमें शरीर ऊपर को उठता है वह उत्तम है। अधम प्राणायाम से व्याधियों और पापों का नाश होता है, मध्यम से पाप, रोग और मह-व्याधियाँ दूर होती हैं, उत्तम से अल्पमूत्र, अल्पमल, शरीर की लघुता और अल्प भोजन हो जाता है। साधक की इन्द्रियाँ और बुद्धि तीव्र होकर त्रिकाल अर्थात् भूत, भविष्यत्, वर्तमान का ज्ञान हो जाता है।

प्राणायाम विधि वर्णन

बद्धपद्मासनो योगी नमस्कृत्य गुरुं शिवम् ।
भ्रूमध्ये दृष्टिरेकाको प्राणायामं समभ्यसेत् ॥७
ऊर्ध्वमाकृष्य चापानवायुं प्राणे नियोजयेत् ।
ऊर्ध्वमानीयते शक्त्या सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥८

टीका—योगाभ्यासी पुरुष बद्धपद्मासन लगाकर गुरु और शिव को नमस्कार करे तथा दृष्टि को भौंहों के मध्य में स्थिर करले। फिर अपान वायु को ऊपर की ओर खींचकर प्राण के साथ योजित करे। इस प्रकार कुण्डलिनी शक्ति को ऊपर उठाने से सभी पापों से छुटकारा होता है।

व्याख्या—बद्ध पद्मासन की विधि पहले बता चुके हैं। उसे लगाकर योगाभ्यास प्रारम्भ करने से पूर्व गुरु की ओर फिर परब्रह्म शिवजी को प्रणाम करना चाहिए। ग्रन्थकार ने पहले गुरु को नमस्कार करने का निर्देश इसलिए किया है कि गुरु ही परब्रह्म का उपदेश करके मोक्ष मार्ग दिखाता है।

उक्त प्राणायाम प्राणापान को संयुक्त करके कुण्डलिनी शक्ति को सुषुम्ना मार्ग से ऊपर उठाने से सिद्ध होना बताया है। योग कुण्डल्युपनिषत् में कहा गया है—

आंकुंचनेन तं प्राहुर्मूलबन्धोऽयमुच्यते ।
अपानश्चोर्ध्वगो भूत्वा वह्निना सह गच्छति ॥
प्राणस्थानं ततो वह्निः प्राणापानो च सत्वरम् ।
मिलित्वा कुण्डली याति प्रसुप्ता कुण्डलाकृतिः ॥
तेनाग्निना च सन्तप्ता पवनेनैव चालिता ।
प्रसार्य स्वशरीरे तु सुषुम्नावदनान्तरे ॥

अर्थात्—गुदा का आकुंचन मूलबन्ध कहलाता है। इससें अपान ऊपर आकर अग्नि के साथ मिलता हुआ चढ़ता है। जब यह अग्नि प्राण स्थान में पहुँचकर प्राणवायु से मिलता है और गुप्त कुण्डलिनी को प्राप्त होता है तब उसकी उष्णता से तप्त एवं वायु से चलित होकर कुण्डलिनी सीधी हो जाती और सुषुम्ना के मुख में प्रवेश करती है।

इस प्रकार यह कुण्डलिनी-जागरण की क्रिया होने के कारण सभी पापों से मुक्त करने वाली बताई गई है। योगियों को इसका अभ्यास करना आवश्यक समझा जाता है परन्तु इसकी सिद्धि सद्गुरु के सान्निध्य में ही हो सकती है।

कुम्भक प्राणायाम

द्वाराणां नवकं निरुद्ध्य मरुतं पीत्वा दृढं धारितं।
नीत्वाकाशमपानवह्निसहितं शक्त्यासमुच्चालितम्॥
आत्मस्थानयतस्त्वनेन विधिवद्विन्यस्य मूर्ध्नि ध्रुवं।
यावत्तिष्ठति तावदेव महतां संघेन संस्तूयते॥९

प्राणायाम का फल वर्णन

प्राणायामो शवत्येवं पातकेन्धनपावकः।
भवोदधिमहासेतुः प्रोच्यते योगिभिः सदा॥१०

टीका—नौ द्वारों को रोककर वायु पान करे और उसे दृढ़ता से धारण करे तथा अग्नि और अपान के योग से जाग्रत हुई कुण्डलिनी को ऊपर स्थिर कर उक्त वायुसे युक्त करे। जो योगी इस प्रकार आत्मा का ध्यान करता है, वह जब तक संसार में

जीवित रहता है, तब तक बड़े-बड़े योगीश्वरजन भी उसकी स्तुति किया करते हैं। इस प्रकार योगीजन प्राणायाम के नित्य अभ्यास को पाप रूपी ईंधन को भस्म करने वाले अग्नि के समान और संसार-सागर से पार उतारने वाले महासेतु के समान बताते हैं ॥९-१०

व्याख्या–यहाँ केवल कुम्भक प्राणायाम का वर्णन है। पूरक, कुम्भक, रेचक के निरन्तर अभ्यास से इसकी सिद्धि हो सकती है। शरीर के नौ द्वार हैं एक मुख, दो नासिका, दो नेत्र, दो कान, यह सात द्वार ऊर्ध्व भाग के और गुदा तथा उपस्थ, यह दो द्वार अधोभाग के, इन सबको रोककर मूलाधार में स्थित अग्नि को अपान वायु सहित विधिवत् प्रयुक्त करके जाग्रत हुई कुण्डलिनी को आज्ञाचक्र से ऊपर उठाकर वायु-पूरित कर उसे स्थिर करे और सहस्रार में परमात्मा का ध्यान करे तो परम:ज्योति से साक्षात्कार होता है। इसका अभ्यास करने वाला योगी सभी योगियों में श्रेष्ठ होता है।

अनेक शास्त्रकारों ने कुम्भक दो प्रकार का माना है–सहित और केवल। जो रेचक-पूरक से युक्त हो वह 'सहित' और रेचक पूरक से रहित हो वह 'केवल' कहलाता है जब तक केवल सिद्ध न हो, तब तक सहित का अभ्यास करना चाहिए। शाण्डिल्योपनिषत् के अनुसार—केवल कुम्भक सिद्धे त्रिषु लोकेषु न तस्य दुर्लभं भवति। केवल कुम्भकात् कुण्डलिनी बोधो जायते' अर्थात् 'जब केवल कुम्भक सिद्ध हो जाता है, तब योगी को तीनों लोक में कुछ भी दुर्लभ नहीं रहता। केवल कुम्भक का अभ्यास सिद्ध होने से कुण्डलिनी जाग्रत होती है। त्रिशिख-ब्राह्मण उपनिषत् के अनुसार—

रेचकं पूरकं मुक्त्वा कुम्भीकरमेव यः।
करोति त्रिषु कालेषु नैव तस्यास्ति दुर्लभम् ॥

अर्थात्—जो रेचक और पूरक को छोड़कर केवल कुम्भक ही करता है, उसके लिये तीनों कालों में कुछ भी कठिन नहीं रहता।

आसनेन रुजो हन्ति प्रणायामेन पातकम् ।
विकारं मानसं योगी प्रत्याहारेण मुच्यति ॥११
धारणाभिमतो धैर्यं ध्यानाच्चैतन्यमद्भुतम् ।
समाधौ मोक्षमाप्नोति त्यक्त्वा कर्म शुभाशुभम् ॥१२
प्राणायामद्विष्टकेन प्रत्याहारः प्रकीर्तितः ।
प्रत्याहारद्विष्टकेन ज्ञायते धारणा शुभा ॥१३
धारणा द्वादश प्रोक्ता ध्यानाद्ध्यानविशारदैः ।
ध्यानद्वादशकेनैव समाधिरभिधीयते ॥१४

टीका—आसनों से शरीर के रोग दूर हो जाते हैं, प्राणायाम से सभी पाप और प्रत्याहार से मन के विकार मिट जाते हैं। धारणा से धैर्य की वृद्धि होती है, ध्यान से अद्भुत् चैतन्य शक्ति की और समाधि से सब शुभाशुभ कर्मों का त्याग होने के कारण मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है। बारह प्राणायामों से प्रत्याहार और बारह प्रत्याहारों (अर्थात् एक सौ चवालीस प्राणायामों से) धारणा होती है। बारह धारणाओं (अर्थात् एक हजार सात सौ अट्ठाईस) प्राणायामों का ध्यान तथा (बीस हजार सात सौ तिरेसठ) प्राणायामों से समाधि होती हैं ॥११-१४

व्याख्या—अनेक विद्वानों ने योग के आठ अंग माने हैं–यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि

इन आठों के समन्वय के कारण योग को अष्टांग कहते हैं। महर्षि पतंञ्जलि के निम्न सूत्र से भी ऐसी ही पुष्टि होती है—

यमनियमासन प्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टा वंगानि ॥।

योगदर्शन २।२८

कुछ लोग योग के छ: अंग ही मानते हैं। वे यम, नियम को योग के अंग स्वीकार नहीं करते। परन्तु जो लोग आठ अंग मानते हैं। उनके मत में यम, नियम के बिना न तो अभ्यांतरिक शुद्धि होती है और न बाहरी ही।

नियमों का पालन न किया जाय तो शरीर और इन्द्रियों के राजसी, तामसी मल-विक्षेपों का सात्विकी होना संभव नहों है। अन्तःकरण का पवित्र होना भी नियमों के पालन पर ही निर्भर है। इस प्रकार योग के आठ अंग मानना ही ठीक है।

ग्रन्थकार का कथन है कि प्राणायाम से बारह गुना फल प्रत्याहार का है। प्रत्याहार से धारणा और धारणा से ध्यान बारह गुना प्रभावशाली है और समाधि ध्यान से भी बारह गुनी फलदायक है। इसका अभिप्राय यह है कि उत्तरोत्तर एक दूसरे से बारह गुना अधिक महत्वपूर्ण है।

समाधि का स्वरूप

यत्समाधौ परं ज्योतिरनन्तं विश्वतोमुखम्।
तस्मिन् दृष्टे क्रिया कर्मं यातायातं न विद्यते ।१५

टीका—जो योगी अनन्त, विश्वतोमुखी परम ज्योति के समाधि द्वारा दर्शन कर लेता है, वह किसी कर्म में लिप्त नहीं

होता है और आवागमन के चक्र से छूट जाता है ।।१५

व्याख्या—समाधि योग का वह महत्वपूर्ण अङ्ग है, जिसके द्वारा साधक ज्योतिस्वरूप परमात्मा के दर्शन करता है। समाधि के द्वारा ही उसे आत्म-ज्ञान हो सकता है और तब वह द्वैत-भाव से मुक्त होकर जन्म-मरण के बन्धन को काटने में समर्थ होता है अन्नपूर्णोपनिषत् में कहा है—

समाधिः संविहुत्पत्तिः परजीवैकतां प्रति ।
नित्यः सर्वगतो ह्यात्मा कूटस्थो दोषवर्जितः ।।

अर्थात्—जीवात्मा और परमात्मा की एकता का ज्ञान समाधि है। क्योंकि आत्मा नित्य, सर्वव्यापी, कूटस्थ और दोष-रहित है।

शाण्डिल्योपनिषत् ने समाधि के रूप पर प्रकाश डालते हुए कहा है—

अथ समाधिः। जीवात्मपरमात्मैक्यावस्था त्रिपुटीरहिता परमानन्द स्वरूपा शुद्धचैतन्यात्मिका भवति ।।

अर्थात्—जीवात्मा और परमात्मा की एकता का अनुभव करने से ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता यह त्रिपुटीरहित परमानन्द स्वरूप और शुद्ध चैतन्यमय अवस्था ही समाधि है।

संबद्धः सन्मेढ्संघ्रियुगलं कर्णाक्षिनासापुटाद्-
द्वाराण्यगुलिभिर्नियम्य पवनं वक्त्रेण संपूरितम् ।
ध्यात्वा वक्षति वह्नन्यपानसहितं मूर्ध्नि स्थितं धारये-
देवं याति विशेषतत्वसमतां योगीश्वरस्तन्मयः ।।१६

टीका—आसन बाँधकर दोनों हाथों के अँगूठों से कानों के दोनों छिद्र, दोनों तर्जनियों से दोनों नेत्र, दोनों मध्यमाओं से दोनों नासापुट तथा अनामिका, कनिष्ठा से मुख बन्द करके अधिमुख

द्वार से पूरित करे और मूलाधार स्थित अग्नि और अपान वायु के सहित प्राणवायु को वक्ष में धारण करके फिर ऊर्ध्व सहस्रार में धारण करे। इस प्रकार समाधि में तन्मय योगीश्वर अन्तरात्मा की समानता को प्राप्त होता है ॥१६

व्याख्या—ऋषि गोरक्षनाथ ने जिस समाधि का निर्देश यहाँ किया है, उसमें प्राणापान के संयुक्त होने पर समाधि अवस्था की प्राप्ति और जीव ब्रह्म का ऐक्य अनुभव होने लगता है। उक्त प्रकार की समाधि सिद्धासन बाँधकर बैठने पर होती है। इस समाधि में इतनी तन्मयता हो जाती है कि साधक आत्मानुभूति करने लगता है।

योगसिद्धि के चिह्न

गगन वदने प्राप्ते ध्वनिरुत्पद्यते महान् ।
घण्टादीनां प्रवाद्यानां तदा सिद्धिरदूरतः ॥१७
प्राणायामेन युक्तेन सर्वरोगक्षयो भवेत् ।
अयुक्ताभ्यासंयोगेन सर्वरोगस्य संभवः ॥१८

प्राणायाम से रोग नाश

हिक्का कासस्तथा श्वासः शिरःकर्णाक्षिवेदनाः ।
भवन्ति विविधा रोगा पवनस्य व्यतिक्रमात् ॥१९
यथा सिंहो गजो व्याघ्रो भवेद्वश्यः शनैः शनैः ।
अन्यथा हन्ति योक्तारं तथा वायुरसेवितः ॥२०
युक्तं युक्तं त्यजेद्वायुं युक्तं युक्तं च पूरयेत् ।
युक्तं युक्तं च बध्नीयादेवं सिद्धिरदूरतः ॥२१

टीका—इस प्रकार प्राणवायु के गमन में पहुँचने पर घण्टा आदि वाद्यों की महाध्वनि उत्पन्न होती है। उस समय योगी को सिद्धि अपने निकट जाननी चाहिए। प्राणायाम के यथाविधि अभ्यास से सभी रोगों का नाश होता है और विधि-रहित अभ्यास से अनेक रोग उत्पन्न हो जाते हैं। अयुक्त व्ययाम द्वारा वायु के विकृत होने पर हिक्का, कास, श्वास, शिरपीड़ा, कान और नेत्रों में वेदना आदि विविध रोग हो जाते हैं। जैसे सिंह, हाथी, व्याघ्रादि धीरे-धीरे वश में होते हैं। और वश में नहीं होते तो पालक का ही मार डालते हैं, वैसे वायु के विरुद्ध सेवन से साधक का अनिष्ट हो सकता है। धीरे-धीरे वायु को छोड़े और धीरे-धीरे ही वायु को पूरित करे। इससे सिद्धि शीघ्र होती है ॥१७-२१

व्याख्या—प्राणवायु के गगन में पहुँचने का अर्थ है, सहस्रार में पहुँच जाना। जब सहस्रार में प्राणवायु स्थित होता है तब साधक को विविध प्रकार के बाजों की ध्वनि सुनाई देती है। ऐसा होने पर समझ ले कि सिद्धि शीघ्र होने वाली है।

योगशास्त्रों के अनुसार अभ्यास के आरम्भ में नादकी ध्वनि तीव्र रूप से सुनाई देती है। परन्तु अभ्यास की वृद्धि होने पर नाद धीमा होता जाता है। प्रारम्भ में गगरी, झरना, भेरी, मेघ, समुद्र आदि के समान ध्वनि होती है। परन्तु मध्य में घण्टा आदि का शब्द सुना जाता है, जो कि अन्त में किंकणी, वंशी, वीणा, भीरा आदि नाद अनुभव में आने लगता है।

प्राणायाम का विधिपूर्वक अभ्यास करना श्रेयस्करहै,क्योंकि विधि-रहित अभ्यास से अनेक रोगों की उत्पत्ति हो सकती है। उससे वायु कुपित हो जाता है ओर हिक्का आदि अनेक रोग

प्रकट हो जाते हैं। शरीर के रोगी होने पर न तो साधना ही हो सकती है और न आत्मदर्शन की अभिलाषा ही रह सकती है।

इसीलिए साधक का कर्तव्य है कि वह प्राणवायु के अभ्यास में शीघ्रता न करे, वरन् विधिपूर्वक थोड़ा-थोड़ा अभ्यास करना ही उचित है। योगाभ्यास के आरम्भ करने से पहले ही तत्सम्बन्धी पूरी जानकारी प्राप्त करके अभ्यास प्रारम्भ करना चाहिए।

प्रत्याहार वर्णन

चरतां चक्षुरादीनां विषयेषु यथाक्रमम्।
यत्प्रत्याहरणं तेषां प्रत्याहारः स उच्यते ॥२२

दिवस के तीन बिभाग

यथातृतीयकालस्थो रविः प्रत्याहरेत्प्रभाम्।
तृतीयांगस्थितो योगी विकारं मानसं तथा ॥२३

अंगमध्ये यथांगान् कूर्म, संकोचयेद् ध्रुवम्।
योगी प्रत्याहरे देवमिन्द्रियाणि तथात्मनि ॥२४

टीका—चक्षु आदि पंच ज्ञानेन्द्रियों के जप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द यह पाँच विषय हैं। इनमें इन्द्रिय द्वारा उसके विषय का अनुभव करके उन-उन इन्द्रियों को अपने-अपने विषय से पृथक कर लेना ही प्रत्याहार कहलाता है। जैसे दिन के तीसरे काल में सूर्य अपनी प्रथा को समेट लेता है, वैसे ही योगी भी योग के तीसरे अंग से मन के विकारों का हरण कर लेता है। जैसे कछुआ अपने अंगों को समेट कर अपने ही अंग में

छिपा लेता है, वैसे ही योगी भी प्रत्याहार द्वारा इन्द्रियों को उनके विषयों से हटाकर आत्मा में लीन कर लेता है ॥२२-२४

व्याख्या—चक्षु जिह्वा, घ्राण, त्वक् और श्रोत्र-यह पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं, उनके पांच विषय हैं, रूप, रस, गंध, स्पर्श और शब्द। चक्षु अर्थात् नेत्र का विषय है रूप जिह्वा का विषय है रस, घ्राण का विषय है गन्ध, त्वचा का विषय है स्पर्श और श्रोत्र अर्थात् कानों का विषय है शब्द। उन इन्द्रियों को अपने-अपने विषय से हटा लें, यही प्रत्याहार है।

यहाँ ग्रन्थकार ने प्रत्याहार को योग का तृतीय अंग बतलाया है। इस प्रकार आसन को प्रथम, प्राणायाम को द्वितीय और प्रत्याहार को तृतीय समझना चाहिए। इसमें यम-नियम से प्रारम्भ न मानकर योग के छः अंग ही माने गए हैं। दिन के तीन काल होते हैं—प्रातःकाल, मध्याह्न काल और सायंकाल। शूर्य अपनी किरणों को समेट कर सायंकाल ही अस्ताचलगामी होता है। इसलिए यहां तीसरे काल के सायंकाल का ग्रहण स्पष्ट है।

प्रत्याहार क्या है ? इस पर योगतत्वोपनिषत् में इस प्रकार प्रकाश डाला गया है—

एक बारं प्रतिदिनं कुर्यात्केवल कुम्भकम्।
इन्द्रयाणीन्द्रियार्थेभ्यो यत्प्रत्याहरणं स्फुटम् ॥

अर्थात्—केवल कुम्भक दिन में एकबार नित्य प्रति करे और कुम्भक में स्थित होकर इन्द्रियों को उनके विषयों से खींच लाये, यही प्रत्याहार है।

इस प्रकार प्रत्याहार के द्वारा इन्द्रियों को वश में किया जा सकता है और इन्द्रियजय करने से ही इन्द्रियाँ आत्मा में तन्मय हो सकती हैं। यदि इन्द्रियाँ आत्मा में तन्मय हो जाती हैं, तब कोई कारण नहीं है कि मन का आत्मा का लय न हो सके।

प्रिय-अप्रिय विषयों का प्रत्याहरण

यं यं शृणोति कर्णाभ्यामप्रियं प्रियमेवं वा ।
तं तमात्मेति विज्ञाय प्रत्याहरितं योगवित् ॥२५

टीका—कानों से जो-जो प्रिय या अप्रिय शब्द सुनाई देते हैं, उनमें मन भी आसक्त हो जाता है, इसलिए श्रोत्र इन्द्रिय के विषय रूप शब्दों से मन को हटा लेना प्रत्याहार है ॥२५

व्याख्या—शब्दों का मन पर बहुत प्रभाव पड़ता है। प्रिय शब्द आसक्ति उत्पन्न करके मन को विषयों की ओर दौड़ाते हैं, और अप्रिय शब्द विरक्ति उत्पन्न करके मन में खिन्नता उत्पन्न कर देते हैं, जिससे विषयों के प्रति विरक्ति ता किसी-किसी को ही होती है। परन्तु क्रोध, द्वेष, ईर्ष्या आदि के उत्पन्न होने में भी अप्रिय शब्द सहायक होते हैं। इस प्रकार प्रिय शब्द हों या अप्रिय साधक के मन को विकृत कर देते हैं और उस अवस्था में उसका चित्त साधना में नहीं लग पाता और देह में आत्म-बुद्धि रहना नहीं मिटता।

प्रिय-अप्रिय दोनों प्रकार के शब्द अच्छे बुरे विषयोंको प्राप्त कराते हैं। इसीलिए शब्द को विषय मानकर उसका त्याग कर देना अत्यन्त आवश्यक माना गया है। जो साधक प्रयत्न पूर्वक शब्द श्रवण को त्याग देते हैं, उनका वह शाब्दिक प्रत्याहार साधना में अत्यन्त सहायक होता है। इस प्रकार शब्द प्रत्याहार का बहुत महत्व है।

अगन्धमथवा गन्धं यं यं जिघ्रति नासिका ।
तं तमात्मेति विज्ञाय प्रत्याहरेत् योगवित् ॥२६

टीका—नासिका के द्वारा जो गन्ध अथवा अगन्ध सूँघा जाता है उस गन्ध को भ्रमात्मक मानकर साधक को उसका त्याग करना चाहिए। यह गन्ध का प्रत्याहार है ॥२६

व्याख्या—गन्ध से सुगन्ध और अगन्ध से दुर्गन्ध कहने का अभिप्राय समझना चाहिए। गन्ध नासिका का विषय है और वह गन्ध मन को भ्रम में डालने वाली होती है। सुगन्ध की ओर मन लालायित होता है और दुर्गन्ध से घृणा उत्पन्न होती है। नासिका की यह वृत्ति भी साधक को साधना से विमुख करने में सहायक होती है। इसलिए गन्ध का त्याग भी प्रत्याहार का एक आवश्यक अंग है।

अमेध्यमथवा मेध्यं यं पश्यति चक्षुषा ।
तं तमात्मेति विज्ञाय प्रत्याहरति योगवित् ॥२७

टीका—नेत्रों के द्वारा जो कुछ पवित्र या अपवित्र दृश्य देखा जाता है, वह सब आत्मा ही है, ऐसा जानकर उन दृश्यों का त्याग करना नेत्र विषयक प्रत्याहार है ॥२७

व्याख्या—पवित्र अपवित्र पदार्थों को देखने से भी उनमें आसक्ति हो सकती है। क्योंकि दोनों प्रकार के ही पदार्थ मन को भ्रम में डालकर साधना से विमुख कर सकते हैं। यदि उन सब पदार्थों में आत्मभाव रखकर उनका त्याग कर देने रूप प्रत्याहार साधक के लिए अवश्य ही श्रेयस्कर हो सकता है।

अस्पृश्यमथवा स्पृश्यं यं यं स्पृशति चर्मणा ।
तं तमात्मेति विज्ञाय प्रत्याहरति योगवित् ॥२८

टीका—त्वचा के द्वारा जो कुछ भी स्पर्श या अश्पृश्य पदार्थ का अनुभव होता है, उस सबको भी आत्मा जानकर जो

उनका त्याग कर देता है, उस त्वक्-प्रत्याहार में प्रवृत्त योग ही योग का जानने वाला है।

व्याख्या—त्वक् इन्द्रिय का स्पर्श है मृदु या कठोर अथवा ठंडे या गर्म पदार्थ का अनुभव त्वचा से ही हो सकता है। अनेक पदार्थ ऐसे हैं जो मन को स्पर्श-सुख में लीन कर देते हैं, उस अवस्था से साधना से विमुख हो जाना स्वाभाविक है। तात्पर्य यह है कि स्पर्श में सुख देने वाला पदार्थ हो या दुःख का अनुभव करने वाला पदार्थ हो, साधना से विघ्न स्वरूप ही है। इसलिए सभी स्पृश्य, अस्पृश्य, पदार्थों को आतमवत् मानकर उनका परित्याग करना ही कल्याणकारी है। इसे त्वचा के विषयों से चित्त को हटा लेने स्वरूप प्रत्याहार समझना चाहिए।

लावण्यमलावण्य वा यं यं रसति जिह्वया।
तं तमात्मेति विज्ञाय प्रत्याहरति योगवित् ॥२९

टीका—जिह्वा जिस सुस्वादु या अस्वादु पदार्थ का सेवन करती है, उसे आत्मा के समान जानकर जो त्याग देता है, वह प्रत्याहारी योगी यथार्थ में योग को जानने वाला है ॥२९

व्याख्या—जिह्वा का विषय रस है। मधुर, अम्ल, कटु, तिक्त, फीका आदि स्वाद जिह्वा के द्वारा ग्रहण किया जाता है। उससे जो वस्तु मन को अच्छी लगती है, उसमें आसक्ति होती है और जो अच्छी नहीं लगती उससे घृणा हो जाती है। आसक्ति और कृपा दोनों से विकार की उत्पत्ति होती है और उससे साधक का चित्त योगाभ्यास में स्थिर रूप से नहीं लग पाता। परन्तु संसार में जो कुछ है वह सब आतमवत् है, ऐसा मानने वाला योगी उन-उन-खटठे, मीठे, कड़वे, तीखे आदि पदार्थों को

आत्मा के समान जानकर उनका त्याग कर देता है। यह रसना विषयक प्रत्याहार समझना चाहिए।

उक्त पाँच विषयों से, पाँचों ज्ञानेन्द्रियों को वृत्तियों को हटा कर आत्मतत्व में स्थिर करना आवश्यक है, इससे तद्विषयक प्रत्याहार सिद्ध होता है।

इसका अभिप्राय यह है कि सुने हुए कटु शब्द को मधुर शब्द के समान माने और मधुर शब्द को कटु शब्द के समान। इस प्रकार अच्छे शब्द मन को आकर्षित न होने दे और बुरे शब्द से घृणा न करे, सब प्रकार के शब्दों को समान भाव से ग्रहण करता हुआ चित्त को लगने दे।

इसी प्रकार नासिका से रुचिकर पदार्थों को सूँघे या अरु-चिकर पदार्थों को उनमें असमानता न माने और नेत्रों से लुभावने पदार्थों को, देखे या घृणित पदार्थों को, सभी में समता का भाव रखकर चित्त को उनसे हटाये रखे। इसलिए सब दृश्यमान पदार्थों को आत्मवत् मानने का उपदेश है यही सिद्धान्त त्वचा से स्पर्श योग्य या अस्पर्श योग्य पदार्थों और जीभ से सुस्वादु या कुस्वादु पदार्थों के प्रति भी मान्य समझना चाहिये। इस प्रकार प्रिय या अप्रिय विषयों को इन्द्रियों से हटाकर आत्मतत्व में स्थित करना ही प्रत्याहार है।

हठयोग से प्रत्याहार

चन्द्रामृतमयी धारां प्रत्याहरति भास्करः।
प्रत्याहरणं तस्याः प्रत्याहारः स उच्यते ॥३०

टीका—चन्द्रमा की अमृतमयी धारा को सूर्य ग्रसता है, उसे सूर्य से हटाकर स्वयं ग्रस ले, वह प्रत्याहार कहलाता है ॥३०

व्याख्या—प्रत्याहार का वर्णन हठयोग के अन्तर्गत आता है। सोलहदल के कमल की कर्णिका में जो चन्द्रबिम्ब स्थित है, उससे निकलने वाले अमृत की धारा को नाभिकमल में विद्यमान सूर्य ग्रास करता है। विपरीतकरिणीमुद्रा के द्वारा उस धारा को सूर्य के मुख से निकालकर अपने मुख में ले जाय, यह प्रत्याहार कहलाता है।

श्लोक में विपरीतकरिणी मुद्रा की ओर संकेत है। इसका विवेचन हठयोग प्रदीपिका में इस प्रकार मिलता है—

यत्किंचित्स्रवते चन्द्रामृत दिव्यरूपिण: ।
तत्सर्वं ग्रसते सूर्य स्तेन पिंडो जरायुत: ।।
ऊर्ध्वं नाभेरधस्तालोरूर्ध्वं भानुरध: शशी ।
करणी विपरीताख्या गुरुवाक्येन लभ्यते ।।

अर्थात्–'दिव्य सुधामय रूप वाले तालुमूल में स्थित चन्द्रमा से जो अमृत गिरता है, उस सब अमृत का नाभि में स्थित अग्नि रूप सूर्य ग्रास कर लेता है। उससे शरीर वृद्धावस्था को प्राप्त हो जाता है।' उस अमृत की रक्षा के लिए योगाचार्यों ने विपरीतकरणी मुद्रा का विधान किया जो कि इस प्रकार सिद्ध होती है कि 'जिस योगी के ऊपरी भाग में नाभि और नीचे के भाग में तालु है, उसके ऊपर के भाग में अग्नि रूप सूर्य और नीचे के भाग में अमृतरूप चन्द्रमा हो जाय, तब विपरीतकरिणी मुद्रा होती है। इसका अभिप्राय यह है कि ऊपर स्थित चन्द्रमा और नीचे स्थित अग्नि को उलटा करके स्थित हो वह विपरीतकरिणी मुद्रा होगी। परन्तु यह मुद्रा गुरु के उपदेश से ही सिद्ध हो सकती है।

एक स्त्री भुज्यते द्वाभ्यामागता चन्द्रमंडलात् ।
तृतीयो य: पुनस्ताभ्यां स भवेदजरामर: ।।३१

टीका—एक स्त्री भोग्या है और भोगने वालों के पास चन्द्र मण्डल से प्राप्त होती है, उसे यदि तीसरा भोगे तो अजर, अमर हो जाता है ।।३१

व्याख्या—यहाँ एक स्त्री का अर्थ है अमृत की वह धारा जो कि चन्द्रमण्डल के स्थान तालुमूल से निकलती है। दोनों का अभिप्राय चन्द्रमा और सूर्य है। चन्द्रमा से निकली हुई अमृतधारा अग्निरूप सूर्य को प्राप्त होती है। इसमें तीसरा वह योगी समझना चाहिए जो विपरीतकरणी मुद्रा द्वारा अमृत-धारा को चन्द्र-सूर्य दोनों से बचाकर स्वयं उसका उपभोग करता है। उस योगी को वृद्धावस्था और मृत्यु का भय नहीं रहता अर्थात् उस अमृतधारा का भोग करने वाला योगी किसी भी रोग-व्याधि के चंगुल में न फँसकर सदा स्वस्थ रहता है, जिससे कि बुढ़ापा उसे नहीं घेर पाता और इस प्रकार वह मृत्यु से बचा रहता है।

विपरीतकरिणी मुद्रा

नाभिदेशे वसत्येको भास्करो देहनात्मनः ।
अमृतात्मा स्थितो नित्यं तालुमूले च चन्द्रमा ।३२
वर्षत्यधोमुखश्चन्द्रोग्रसत्यूर्ध्वमुखो रविः ।
ज्ञातव्या करणी तत्र यथा पीयूषमाप्यते ।।३३

टीका—अग्नि रूपी एक सूर्य नाभि में रहता है और अमृत रूपी आत्मा वाला चन्द्रमा सदा तालुमूल में निवास करता है। तालुमूल में नीचे की ओर मुख करके रहने वाला चन्द्रमा जिस अमृत की वर्षा करता है, उसे ऊपर की ओर मुख किये हुए

अग्निरूपी सूर्य नाभि में रहता हुआ ही पान कर लेता है। परन्तु जो योगी विपरीतकरिणी मुद्रा को जानते हैं, वे उस अमृत को अग्नि के मुख से बचाकर अपने मुख में लेते रहते हैं ॥३२-३३

व्याख्या—चन्द्रमा का निवास तालुमूल स्थित विशुद्ध चक्र में माना जाता है। वहाँ से सुधारस का स्राव होता रहता है, जिसे नाभिमण्डल में स्थित अग्नि पी लेता है। यदि वह अमृत उस अग्नि के द्वारा ग्रास किया जाने से बचा रहे तो उस अमृत को कोई रोग नहीं हो सकता और वह सदा स्वस्थ रहता है।

योगाभ्यास में साधक का स्वस्थ रहना अत्यावश्यक है। अस्वस्थ शरीर अभ्यास में बाधक होता है, क्योंकि शरीर के स्वस्थ न रहने पर मन भी स्वस्थ नहीं रह सकता और उस स्थिति में योगाभ्यास करना किसी प्रकार भी सम्भव नहीं। इसलिए योगाचार्यों ने आसती, मुद्राओं आदि के द्वारा शरीर को निरोग और सुपुष्ट बनाये रखने की आवश्यकता बताई है।

उर्ध्वं नाभिरधस्तालुरूर्ध्वं सूर्यरधःशशी।
करणी विपरीताख्या गुरूपदेशेन लभ्यते ॥३४

टीका—नाभि में स्थित अग्नि रूपी सूर्य को ऊपर और तालुमूल में स्थित अमृतमय चन्द्रमा को नीचे करना ही विपरीत करिणी नाम की मुद्रा है, जो कि गुरु के उपदेश से ही प्राप्त होती है ॥३४

व्याख्या—अग्नि को ऊपर और चन्द्रमा को नीचे की ओर करने से विपरीतकारिणी मुद्रा होती है। यह मुद्रा गुरु के तत्वाधान में ही उपलब्ध करनी चाहिए। इससे पहले प्राणायामादि के अभ्यास और खेचरी मुद्रा के साधन में दृढ़ता प्राप्त कर लेनी चाहिए।

अनाहत चक्र

त्रिधा बद्धो वृषो यत्र रोरवीति महास्वनः ।
अनाहतं व तत्वचक्रं हृदये योगिनो विदुः ॥३५
अनाहतमतिक्रम्य चाक्रम्य मणिपूरकम् ।
प्रान्ते प्राणे महापद्म योगी स्वममृतायते ॥३६

टीका—रस्सियों के तीन लपेटों में बँधा हुआ मनुष्य जैसे रोदन शब्द करता है, वैसे ही अनाहत चक्र-में माया से बँधा हुआ जीव हृदय में निरन्तर नाद करता रहता है, इसे योगिजन ठीक प्रकार से जानते हैं। अनाहत चक्र का (और उससे पहले) मणिपूर चक्र का अतिक्रमण करके महापद्म के प्राप्त होने पर योगी स्वयं अमरत्व को प्राप्त होता है ॥३५-३६

व्याख्या—मनुष्य शरीर में छः चक्र हैं—मूलाधारं, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनहत, विशुद्ध और आज्ञाचक्र। इनका वर्णन पहिले भी कर चुके हैं। यहाँ उन चक्रों के भेदन की ओर ग्रन्थकार का संकेत है। इसलिए यह बताना आवश्यक है कि मूलाधार चक्र का स्थान गुदा से दो अंगुल ऊपर और जननेन्द्रिय से दो अंगुल नीचे है। स्वाधिष्ठान चक्र का स्थान मूलाधार से ऊपर तथा जननेन्द्रिय के समक्ष है। मणिपूर स्वाधिष्ठान के ऊपर नाभिमूल स्थित है और अनाहित चक्र का निवास हृदय में है। इससे ऊपर अर्थात् कण्ठ में विशुद्ध चक्र होता है और आज्ञाचक्र दोनों भौंह के मध्य में रहता है।

ग्रन्थकार ने इन चक्रों का क्रम से भेदन करने का संकेत किया है और 'प्राप्ते प्राणे महापद्म' कहकर यह स्पष्ट कर दिया है कि जब प्राण महाकमल अर्थात् ब्रह्मरन्ध्र को प्राप्त हो जाता

है तब वह अमृत में लीन हो जाता है। अथवा यह कहना चाहिए कि अमृतत्व से युक्त ब्रह्मस्थान की प्राप्ति हो जाती है। योग-शास्त्रों के अनुसार योगाभ्यासियों की साधना की चरम सीमा वहीं है और इसलिए षट्चक्र भेदन का अत्यन्त महत्व माना गया है। यही कुण्डलिनी जागरण और उसका शिव से मिलन होने की विधि है, जिसके अभ्यास से मोक्ष की प्राप्ति होती है।

ऊर्ध्वं षोडशपत्रपद्मगलितं प्राणादवाप्तं हठा-
दूर्ध्वास्यो रसनांनिधाय विधिवच्छक्तिं परां चिन्तयेत् ।
तत्कल्लोलकलाजलं सुविमलं जिह्वाकुलं यः पिबे-
न्निर्दोषः समृणालकोमलवपुर्योगी चिरं जीवति ॥३७

टीका—सहस्रार से षोडशदल कमल में गिरते समय प्राण-वायु को नासिका के ऊपर वाले विवर में चढ़ा ले जाय। जिह्वा को भी ऊर्ध्व विवर में घुसाकर मुख को ऊपर की ओर करे और प्राणवायु के सहित सहस्रार में पहुँची हुई कुण्डलिनी का ध्यान करे। कुण्डलिनी के वहाँ पहुँचते ही जो अमृतमय तरंग निर्गत हो उसका जिह्वा से मंथन कर उसके सार रूप अमृत का पान करे। इससे योगी का शरीर अत्यन्त कोमल एवं दोषरहित होता और उसे चिरञ्जीव की प्राप्ति होती है ॥३८

व्याख्या—खेचरी मुद्रा के साथ उपर्युक्त प्रकार से ब्रह्मरन्ध्र पर्यन्त वायुपूरण करके सहस्रार से विशुद्ध चक्र में गिरते समय प्राणवायु को नासिका से ऊर्ध्वविवर में चढ़ा लेने का विधान है। इसमें अमृतपान के लिए जिह्वा को जिह्वामूल से होकर ब्रह्मरन्ध्र पहुँचाने का अभ्यास किया जाता है। शौण्डिल्य उप-निषद् में संध्या के समय वायु को खींचकर पान करने का निर्देश

मिलता है। उससे तीन महीने में अभ्यासी की वाणी सरस्वती स्वरूपा हो जाती है। और छः महीने के अभ्यास से सभी रोग दूर हो जाते हैं। इसके पश्चात् इसी उपनिषत् में कहा है—

जिह्वया वायुमानीय जिह्वामूले निरोधयेत् ।
यः पिवेदमृतं विद्वान् सकलभद्रमश्नुते ॥

अर्थात्—जो विद्वान् योगी जीभ से वायु को ग्रहण कर उसे जिह्वामूल में रोककर अमृत का पान करता है, उसका सब प्रकार से कल्याण होता है।

इस प्रकार उक्त क्रिया योगाभ्यासियों के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इससे सब रोगों की समाप्ति होने के साथ ही दीर्घजीवन की उपलब्धि होती है।

काकीमुद्रा

काकचंचुवदास्येन शीतलं सलिलं पिवेत् ।
प्राणापानविधानेनतोऽसौ भवति निर्जरः ॥३८
रसना तालुमूललेन य प्राणमनिलं पिबेत् ।
अब्दार्द्धेन भवेत्तस्य सर्वैरोगस्य संक्षवः ॥३९

टीका—कौए की चौंच के समान मुख को करके जो साधक प्राणापान के विधान से शीतल वायु का पान करता है वह कभी बूढ़ा नहीं होता। जो योगी जीभ के द्वारा प्राणवायु पीता हुआ तालुमूल को पूरित करता है वह छः मास के अभ्यास से ही सब रोगों का छुटकारा पा लेता है ॥३८-३९

व्याख्या—उपर्युक्त क्रिया को योगशास्त्रियों ने काकी मुद्रा के नाम से कहा है। इसमें कौए की चौंच जैसी मुख-मुद्रा बना

कर जीभ के द्वारा वायु का पान किया जाता है इस मुद्रा में नासिका रन्ध्रों वायु के ग्रहण का विधान नहीं है।

मुख को वायु खींचने के योग्य बनाकर जिह्वा द्वारा वायु को खींचना स्वास्थ्य के लिए अत्यन्त हितकर है। इससे अनेक रोगों का नाश होता है। यद्यपि यह बात अनेक स्थलों पर कही गई है, परन्तु प्रत्येक वर्णन का अपना-अपना पृथक् महत्व होने के कारण उसमें पुनरोक्ति दोष नहीं समझना चाहिए, वरन् यह मानना चाहिए कि योगशास्त्र की सभी क्रियाएँ गुप्त होने के कारण बहुत से विद्वानों को भी यह ज्ञात नहीं हो पाता कि किस क्रिया को किस प्रकार किया जाय और उससे क्या-क्या लाभ हो सकते हैं। प्राणायामों में नासिका के द्वारा वायु ग्रहण करने के लाभ पृथक् हैं और जिह्वा द्वारा वायु खींचने के गुण पृथक्। इसलिए उसके भेदों को ठीक प्रकार समझ कर ही इच्छित अभ्यास करना श्रेयस्कर है।

काकी मुद्रा से वृद्धावस्था की अप्राप्ति कहकर सतत यौवन और रोग-राहित्य का लाभ सिद्ध किया है। यह कोई आश्चर्य जनक बात नहीं है, वरन् अनेक सिद्ध पुरुषों द्वारा अनुभूत तत्व है, परन्तु इसका लाभ ठीक से अभ्यास में तत्पर रहकर ही उठाया जा सकता है।

विशुद्ध चक्र

विशुद्धे पञ्चमे चक्रे ध्यात्वासो सकलामृतम्।
सन्मार्गेण हृतं याति वञ्चयित्वा मुखं रवेः ॥४०
विशब्देन स्मृतो हंसो नैर्मल्यं शुद्धिरच्यते।
अतः कण्ठे विशुद्धाख्य चक्रं चक्रविदो विदुः ॥४१

सूर्यमुख-वंचन

अमृतं कन्दरे कृत्वा नासान्तसुषिरे क्रमात् ।
स्वयमुच्चालितं याति वर्जयित्वा मुखं रवेः ॥४२

टीका—योगी पाँचवे विशुद्ध चक्र में चन्द्रकलामय अमृत का ध्यान करे। तब ऊर्ध्व मार्ग से ऊपर उठते हुए सूर्य मुख को वंचन करे वह चन्द्रकलामृत उस योगी के मुख में पड़ता है। 'वि' शब्द से वंस का और 'शुद्ध' शब्द निर्मल का बोध होता है। इसलिए विशुद्ध संज्ञक जो चक्रकण्ठ में स्थित है उस श्रेष्ठ चक्र को योगवेत्ता भले प्रकार जानते हैं। विशुद्ध चक्र में स्थित अमृत का अपान युक्त प्राण को ऊपर ले जाकर ऊर्ध्व विवर में प्रविष्ट कर क्रमपूर्वक नासिका से ऊपर ले जाने से सूर्य मुख का वंचन होता है, उससे वह अमृत पेट में अन्नवत् हो जाता है ॥४०-४२

व्याख्या—षट्चक्रों के अन्तर्गत विशुद्ध चक्र पाँचवाँ है, वहाँ चन्द्रकला से स्रावित होने वाले अमृत का ध्यान करना चाहिए 'विशुद्ध' अर्थ शुद्ध हंस है और हंस जीव का पर्याय माना गया है। विशुद्ध चक्र का स्थान कण्ठ में होने के कारण भी उसकी श्रेष्ठता बनती है। क्योंकि कण्ठ से निकलते हुए 'हकार' और सकार को जपता हुआ जीव अजपागायत्री के जप में संलग्न रहता है। शरीर में प्राणियों को अच्युत रूप हंस सदा स्थित रहता है और 'हंस एव परं सत्यं हंस एवतु सत्यकम्' (ब्र.वि.उ.) अर्थात् 'हंस ही परम सत्य है और हंस ही शक्ति स्वरूप है।

शरीर के चार अवयव अत्यन्त पवित्र माने गए हैं जिनमें ब्रह्मा, विष्णु शिव और महेश्वर का निवास रहता है। ब्रह्म-विद्योपनिषत् में कहा गया है—

ब्रह्मणो हृदयस्थानं कण्ठे विष्णुः समाश्रितः ।
तालुमध्ये स्थितो रुद्रो ललाटस्थो महेश्वरः ॥

अर्थात्—'ब्रह्म का स्थान हृदय एवं विष्णु का कण्ठ है। तालु में रुद्र, ललाट में महेश्वर हैं। इससे कण्ठ का महत्व प्रत्यक्ष होता है।

चन्द्रामृतपान का फल

बद्धं सोमकलाजलं सुविमलं कण्ठस्थलादूर्ध्वतो
नासान्ते सुषिरे नयेत्व गगनद्वारान्ततः सर्वतः ।
ऊर्ध्वास्योभुविसन्निपत्यनितरामुत्तानपादः पिबे-
देवं यः कुरुतेजितेन्द्रियगणोनैवास्तितस्यक्षयः ।४३
ऊर्ध्वजिह्वां स्थिरीकृत्य सोमपानं करोति यः ।
मासार्द्धेन न सन्देहो मृत्युं जयति योगवित् ॥४४

टीका—कण्ठ के ऊर्ध्व भाग में स्थित स्वच्छ चन्द्रकलामृत को रोककर नासिका से ऊपर के विवर में भरे और वायु के सभी द्वारों को रोककर गगन में प्राणापान युक्त पूरक करे तथा पृथिबी में उत्तान लेट जाय और पाँवों को उत्तान कर उक्त अमृत को पीवे। इस प्रकार से जो जितेन्द्रिय योगी सदा करता रहता है, उसका क्षय कभी नहीं हो सकता। जीव को ऊर्ध्व स्थिर करके अमृतपान करने वाला योगाभ्यासी पन्द्रह दिन में ही मृत्यु को जीतने वाला हो जाता है ।।४३-४४

व्याख्या—चन्द्रामृत को रोककर ऊर्ध्व विवर में पूरित करने की विधि पहले बता चुके हैं। शरीर के नौ द्वारों को रोक कर उसे प्राण और अपान के सहित ऊपर आज्ञाचक्र में स्थित करे। इसमें उत्तान लेटकर पाँवों को भी उत्तान कर लेने का संकेत उत्तान आसन की ओर हैं, जिनमें सीधे लेटकर पाँवों को भी सीधे पसार लिया जाता है।

इसके साथ ही जिह्वा को ऊपर अर्थात् ब्रह्मरन्ध्र में स्थिर करके चन्द्रमामृत का पान करना साधक के लिए अत्यन्त हितकर है। वैसा करने से उसमें मृत्यु को भी जीत लेने की शक्ति आ जाती है, इसका अभिप्राय स्वस्थ और दीर्घजीवन से है।

अभ्यास काल में योगी को जितेन्द्रिय रहना चाहिए, इस पर बहुत बल दिया गया है, उसका कारण यह है कि जितेन्द्रियता के अभाव में अनेक रोगों की उत्पत्ति हो सकती है और योग-साधना भी ठीक प्रकार से नहीं हो सकती। इसलिए मानसिक संयम की अत्यन्त आवश्यकता है, क्योंकि मानसिक संयम से सभी प्रकार के संयम स्वतः सिद्ध हो जाते हैं।

वद्धं मूलबिलं येन तेन विघ्नो विदारितः।
अजरामरमाप्नोति यथा पञ्चमुखी हरः ॥४५

टीका—जो योगी मूलद्वार को रोकने में सफलता प्राप्त कर लेता है, उसके सभी विघ्न नष्ट होकर अजर-अमरत्व की प्राप्ति होती है और वह पंच मुख शिव के समान हो जाता है ॥४५

व्याख्या—इस श्लोक में मूलबन्ध की ओर संकेत है। जो योगी मूलबन्ध के साथ अपनी वायु को ऊपर की ओर आकर्षण करने में सफल हो जाता है, उसी को साधना तो निर्विघ्न चलती ही है, साथ हो उसे वृद्धावस्था और मृत्यु का भय भी नहीं रहता।

यहाँ मूलबन्ध का वर्णन करना भी आवश्यक प्रतीत होता है। हठयोग प्रदीपिका में कहा है—

अर्थात्—अधोगति वाले अपान वायु को जो बन्ध बलपूर्वक ऊर्ध्वगामी करता है और साथ ही गुह्यदेश का संकोच करता है उसे मूलबन्ध कहते हैं।

संपीड्य रसनाग्रेण राजदन्तिबिलं महत् ।
ध्यात्वाहृतमयीं देवीं षण्मासेन कविर्भवेत् ॥४६
सर्वाधाराणि बध्नाति यदूर्ध्वं धारितं महत् ।
न मुञ्चत्यमृतं कोऽपि सपन्था पंच धारणा ॥४७

टीका—जो योगी राजदन्त के रन्ध्र को जिह्वा के अग्रभाग से पीड़ित करता हुआ अमृतमयी वाणी का छः महीने तक ध्यान करता है, वह कवि हो जाता है। राजदन्त के रन्ध्र को जिह्वा के अग्रभाग से पीड़ित कर रोके तो सभी नाड़ियों के द्वार रुक जाते हैं। जब ऊर्ध्व मार्ग रुक जाता है, तब अमृत की धार कहीं अन्यत्र नहीं गिरती। जैसे पंचधारणा के अभ्यासी को अमृत हरण रूप प्रत्याहार बताया है, वैसे ही अमृत का ऊर्ध्व विवर में धारण करना धारण है ॥४६-४७

व्याख्या—जीभ के अग्रभाग तालुरन्ध्र को पीड़ित करने से जो टपकते हुए अमृतरस को पीता हुआ साधक सरस्वती का ध्यान करता है उसे वाणी सिद्ध हो जाती है। 'त्रिमासात्तस्य कल्याणी जायते वाक् सरस्वती' (शा. उ.) अर्थात् तीन मास के अभ्यास से ही वाणी कल्याणमयी सरस्वती हो जाती है।

राजदन्तरन्ध्र के मार्ग को जीभ से रोक लेने पर अमृत की धारा रुक जाती है, जिससे कि अमृत ऊर्ध्व विवर में स्थिर हो जाता है, यह अमृत की धारणा कही गई है। शाण्डिल्योपनिषत् में धारणा के तीन प्रकार कहे गए हैं—'आत्मनि मनोधारणं दहराकाशे बाह्याकाशं धारणं पृथिव्यप्ते जो - बाह्याऽकाशेषु पंचमूर्ति धारणं चेति' अर्थात्—आत्मा में मन की धारणा, दहराकाश में बाह्याकाश की धारणा और पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश में पाँचमूर्तियों की धारणा। यथार्थ में जो 'निजतत्त्व निश्चलीभावो धारणा धारणं विदुः' (त्रि ब्रा उ.)

अर्थात् चित्त को निश्चल बना लेना ही धारणा समझनी चाहिए। वैसे यह प्रकरण धारणा का नहीं, वरन् प्रत्याहार का है, फिर भी प्रसंगवश यहाँ धारणा के विषय में कहना आवश्यक प्रतीत हुआ। आगे यथा प्रकरण धारणा के विषय में पूर्ण प्रकाश डालेंगे।

रसास्वादानुभव

चुम्बन्ती यदि लम्बकाग्रमनिशं जिह्वा रसस्यन्दिनी।
सक्षारं कटुकाम्लदुग्धसदृशं मध्वाज्यतुल्यं तथा।
व्याधीनां हरणं जरान्तकरणं शास्त्राङ्गमोद्गीरणं
तस्य स्यादमरत्वमष्टंगुणितंसिद्धाङ्गनाकर्षणम् ॥४८

टीका—जिह्वाग्र से चुम्बन का अभ्यास करने वाले योगी को कभी क्षार, कभी कटु, कभी अम्ल, कभी दुग्ध जैसा, कभी मधु और कभी घृत जैसे स्वाद का अनुभव होने लगता है और अभ्यास के सिद्ध होने पर रोगों का हरण और वृद्धावस्था का अन्त होता है। बिना अध्ययन किये ही शास्त्रों और उनके अंगों की व्याख्या करने की सामर्थ्य, अमृतत्व और अष्ट सिद्धियों की प्राप्ति होती है तथा सिद्धों और स्त्रियों को आकर्षण की प्राप्ति होती है ॥४८

व्याख्या—लम्बिका का निरन्तर चुम्बन करते रहने वाले योगाभ्यासी को खट्टे, मीठे आदि अनेक रसों का स्वाद स्वतः प्राप्त होने लगता है और जब अभ्यास परिपक्व हो जाता है तब यदि वृद्धावस्था हो तो युवावस्था की प्राप्ति हो जाती है। यदि शरीर में कोई रोग हो तो नष्ट हो जाता है।

शास्त्रों को पढ़े बिना ही उनके सर्वांग का ज्ञान हो जाता है मृत्यु को जीतने की सामर्थ्य प्राप्त हो जाती है। अणिमादि अष्ट-सिद्धियाँ सुलभ होती हैं। 'अथ नो चेत्समुत्स्रष्टं स्वशरीरं प्रियं इत्यादि (या. त. उ.) के अनुसार 'यदि शरीर प्रिय हो तो वह सिद्धियों से सम्पन्न होकर सब लोकों में विहार कर सकता है।'

उस साधकका शरीर अत्यन्त तेजोमय लावण्यमय और सुन्दर हो जाता है, इसलिए स्त्रियाँ उसके रूप पर मोहित और आकर्षित होने लगती हैं। 'तद्रूपवशगा नार्यः कांक्षन्ते तस्य संगमम्' (ते. वि. उ.) अर्थात् 'उसके रूप को देखकर अनेक स्त्रियाँ उस पर मोहित हो जाती हैं और संगम की इच्छा करने लगती हैं। उसे जो परमसिद्धि प्राप्त होती है। उसका रहस्य जानने से सिद्ध पुरुष भी उसका सामीप्य प्राप्त करने के इच्छुक रहते हैं।

अमृतापूर्णदेहस्व योगिनो द्वित्रिवत्सरात् ।
ऊर्ध्वं प्रवर्तते रेतोऽप्यणिमादिगुणोदयः ॥४९
ईन्धनानि यथा वह्निस्तैलवर्ति च दीपकः ।
तथा सोमकलापूर्ण देहं देही मुञ्चति ॥५०
नित्यं सोमकलापूर्ण शरीरं शस्य योगिनः ।
तक्ष केणापि दंष्टस्य विषं तस्य न सर्पति ॥५१

टीका—उक्त प्रकार शरीर के अमृत से युक्त पर दो या तीन वर्ष के अभ्यास से ही बिन्दु ऊपर की ओर चढ़ जाता है, जिससे अणिमादि सिद्धियों की प्राप्ति होती है। जसे अग्नि सूखे काष्ठ को तथा दीपक तेल सहित बत्ती को भी जलाये बिना नहीं रहता, वैसे ही चन्द्रकला के अमृत से परिपूर्ण हुआ जीवात्मा साधक के शरीर का त्याग नहीं करता। जिस योगी का देह

चन्द्रकला के अमृत से परिपूर्ण रहता है, वह तक्षक नाग द्वारा दंशित हो जाय तो भी उसके देह में विष नहीं फैल सकता ।।४९-५१

व्याख्या—उक्त विधि से शरीर में अमृत भर जाने पर साधक दो-तीन वर्ष के अभ्यास में ही ऊर्ध्वगामी हो जाता है। उसे अणमादि सिद्धियाँ अनायास ही उपलब्ध हो जाती हैं उसको जरा-मरण का भी भय नहीं रहता और सर्प-दंश उसका कुछ बिगाड़ नहीं सकता। योगचूड़ामण्युपनिषत् में कहा है—

खेचर्या मुद्रितं येन विवरं लम्बिकोर्ध्वतः।
न तस्यक्षीयते बिन्बुः कामिन्यालिंगितस्य च ।।

अर्थात्—जिसने खेचरी मुद्रा के द्वारा जीभ के ऊपर विवर प्रकार (कपाल कुहर) को बन्द कर लिया है, उसका बिन्दु किसी प्रकार भी नष्ट नहीं हो सकता और रमणी के आलिंगन का प्रभाव भी उस पर नहीं पड़ता।

इस प्रकार साधक ऊर्ध्वरेता हो जाता है, तब 'यावद् बिन्दुः स्थितो देहे तावन्मृत्यु भयं कुतः' अर्थात् 'शरीर में जब तक वीर्य स्थित रहता है तब तक मृत्यु का क्या भय है ?' इससे यह प्रकट होता है ऊर्ध्वरेता योगी जरा-मरण के भय से वचा भी रहता है और उसकी शारीरिक अग्नि इतनी तीव्र हो जाती है कि उसे कोई घोर भयङ्कर सर्प भी काट ले तो विष अमृत के समान नब जाता है।

धारणा वर्णन

आसनेन समायुक्तः प्राणायामेन संयुतः।
प्रत्याहारेण सम्पन्नो धारणां च समभ्यसेत् ।।५२

हृदये पंचभूतानां धारणा च पृथक् पृथक् ।
मनसो निश्चलत्वेन धारणा साभिधीयते ।।५३

टीका—आसन प्राणायाम और प्रत्याहार का अभ्यास सिद्ध होने पर धारणा का अभ्यास करना चाहिए। हृदय में मन की निश्चलता के साथ पंचभूतों को पृथक्-पृथक् धारण करना ही धारणा कही जाती है ।।५२-५३

व्याख्या—षडंग योग में धारणा का चतुर्थ स्थान है। यह उसी को सिद्ध हो सकती है, जिसने आसन प्राणायाम और प्रत्याहार को सिद्ध कर लिया हो। 'मनसो धारणं यत्तद्युक्तस्य चयनादिभि:' इत्यादि (त्रिशिखब्राह्मण) के अनुसार 'यमादि के द्वारा मन का धारण करना ही धारणा है, जो कि संसार-सागर से पार होने का कारण होती है। अथवा 'चित्तस्य निश्चलीभावो धारणाधारणं विदु' के अनुसार 'चित्त को निश्चल बना लेना ही धारणा है।'

पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश यह पंचमहाभूत है, इन पाँचों को पृथक्-पृथक् से धारण करना ही उन-उन की धारणा होती है। योगतत्वोपनिषत् में भी कहा गया है कि जिसका चित्त वायु के साथ सुषुम्ना में प्रवेश कर जाता है उसे पंचभूतों की धारणा हो जाती है। यथा—

भूमिरापोऽनलो वायुराकाशश्चेति पंचक: ।
येषु पंचसु देवानां धारणा पंचधोच्यते ।।

अर्थात्—उस योगी को भूमि, जल, अग्नि, वायु और आकाश पाँचों देवताओं की धारणा हो जाती है। यहाँ देवताओं का अर्थ महाभूतों से समझना चाहिए।

पृथिवी की धारणा

यापृथ्वी हरितालहेमरुचिरा पीता लकारान्विता
संयुक्ता कमलासनेन हि चतुष्कोणाहृदिस्थायिनी ।
प्राणांस्तत्र विलीय पंचघटिकां चित्तान्वितान्धारये-
देषास्तंभकरी सदा क्षितिजयं कुर्याद्भुवो धारणा
॥५४

टीका—जो पृथिवी हरिताल या स्वर्ण जैसे रुचिर वर्णवाली है। जो अधिष्ठातृ देवता ब्रह्मा के सहित चतुष्कोणाकार पीठ, जिसके मध्य में 'लं' बोज स्थित है, उस 'लं' बीज का हृदय में ध्यानयुक्त भावना कर, मन सहित प्राण को भूमण्डल में लीन कर ले। इस प्रकार यह धारणा पाँच घड़ी तक स्तम्भन करने वाली है। इसके प्रभाव से पृथिवी तत्व जीता जाता है ॥५४

व्याख्या—'लं' बीज सहित चौकोर एवं स्वर्णवर्णा पृथिवी का हृदय में भावना करता हुआ, प्राण को मन-सहित पृथिवी में लीन करने से दो घण्टे में पृथिवी तत्व पर विजय प्राप्त होती है। योगतत्वोपनिषत् में इसे इस प्रकार कहा गया है—

पृथिवी चतुरश्रं च पीतवर्णं लवर्णकम् ।
पार्थिवे वायुमारोप्य लकारेण समन्वितम् ।
ध्यायंश्चतुर्भुजाकारं चतुर्वक्त्र हिरण्मयम् ।
धारयेत्पञ्चघटिकाः पृथिवीजयमाप्नुयात् ॥

अर्थात्—पृथिवी चार कोण वाली, पीतवर्णा और 'लं' अक्षर युक्त है। पृथिवीतत्व में वायु का आरोप कर और 'ल' को उसमें युक्त करके स्वर्ण जैसे वर्ण वाले चतुर्भुज ब्रह्मा का ध्यान करना चाहिए इसके पाँच घड़ी तक ध्यान करने से पृथिवीतत्व जय हो जाता है।

यह पार्थिवी धारणा हुई। अब वारुणी अर्थात् जल की धारणा कहते हैं।

जल की धारणा

अर्द्धेन्दुप्रतिमं च कुन्दधवलं कण्ठेऽम्बुतत्वं स्थितं
यत्पीयूषवकारबीजसहितं युक्तं सदा विष्णुना।
प्राणं तत्र विलीय पञ्च घटिका चितान्वितं धारये-
देषा दुःसहकालकूटदहनो स्याद्वारुणी धारणा।५५

टीका—अर्द्ध चन्द्राकार कुन्द के पुष्प जैसे शुभ वर्ण वाले, अमृत रूप, वकार बीज युक्त एवं अधिष्ठातृदेव विष्णु के सहित जल तत्व का ध्यान करते हुए उक्त जल तत्व में मन-प्राण सहित स्वयं को भी लीन कर लेने से पाँच घड़ी में यह वारुणी धारणा सिद्ध हो जाती है। इसके अभ्यास से दुःसह कालकूट विष भी भस्म होता है ॥५५

व्याख्या—इस श्लोक में जलतत्व की धारणा का वर्णन हुआ है। योगतत्वोपनिषत् में इसका इस प्रकार वणंन मिलता है—

अपोऽर्धचन्द्रं शुक्लं वं बीजं परिकीर्तितम्।
वारुणेवायुमारोप्य वकारेण समन्वितत् ॥
स्मरेन्नारायणं देवं चतुर्वाहुं किरीटिनम्।
शुद्धं स्फटिकसंकाशं पीतवासमच्युतम् ॥
धारयेत्पंचघटिकाः सर्वपापैः प्रमुच्यते।
ततो जलाद्भयं नास्ति जले मृत्युर्न विद्यते ॥

अर्थात्—जलतत्व अर्द्ध चन्द्राकार 'वं' बीज से युक्त हैं। इस तत्व में वायु का आरोप करके 'वं' को समन्वित करे और चतु-

भुंज, शुद्ध स्फटिक जैसे वर्ण वाले, पीताम्बर को धारण किये हुए अच्युत भगवान् विष्णु का ध्यान करे। इस प्रकार पांच घड़ी के ध्यान में ही सब पापों से छुटकारा हो जाता है। इस धारणा के प्रभाव से जल का भय नहीं रहता और न जल से मृत्यु ही होती है।

अग्नि की धारणा

यत्तालुस्थितमिन्द्रगोपसदृशं तत्वं त्रिकोणानलं
तेजो रेफयुतं प्रवालरुचिरं रुद्रेण सत्सङ्गतम् ।
प्राणं तत्रविलीय पंचघटिकं चित्तान्वितंधारये-
देषां वह्निजयं सदा वितनुते वैश्वानरी धारणा
॥५६

टीका—इन्द्रगोप के समान लाल वर्ण, त्रिकोणाकार, प्रवाल जैसे रुचिर, तेजस्वरूप, बीज में रं बीज की विद्यमानता युक्त एवं अधिष्ठातृदेव रुद्र के सहित अग्नितत्व में प्राण-मन के सहित स्वयं को भी लीन करके पाँच घड़ी पर्यन्त ध्यानमग्न रहे तो यह वैश्वानरी धारणा सिद्ध होती है। इसका अभ्यासी पुरुष अग्नितत्वजेता होता है ॥५६

व्याख्या—अग्नि तत्व का वर्ण बीरवहूटी के समान लाल, 'रं' बीज और देवता रुद्र हैं, इसकी धारणा से साधक को अग्नि से भय नहीं होता। योगतत्वोपनिषत् के अनुसार—

बह्निस्त्रिको रक्तं च रेफाक्षरसमुद्भवम् ।
वह्नौ चानिलमारोप्य रेफाक्षर समुज्वलम् ॥
त्रियक्षं वरदं रुद्रं तरुणादित्यसन्निभम् ।
भस्मोद्धूलित सर्वाङ्ग सुप्रसन्नमनुस्मरन् ॥

धारयेत्पंच घटिका वह्निनाऽसौ न दह्यते ।
न ह्यते शरीरं च प्रविष्टस्याग्निकुण्डके ॥

अर्थात्—अग्नित्रिकोण रक्तवर्ण का और 'रं' अक्षरयुक्त होता है। अग्नि तत्व में वायु को आरोपित कर 'रं' अक्षर को युक्त करे और त्रिनेत्र, वरदायक, तरुण सूर्य जैसी प्रभा वाले सर्वाङ्ग में भस्म रमाये हुए भगवान् रुद्र का प्रसन्न मन से स्मरण करे तो पाँच घड़ी में ही अग्नि की धारणा सिद्ध होती है। तब अग्नि में नहीं जलता। यदि दहकते हुए अग्निकुण्ड में गिर पड़े तो नहीं जल सकता।

वायु की धारणा

यद्भिन्नाञ्जनपुंजसन्निभमिदं स्यूतं भ्रुवोरन्तरे
तत्वं वायुमयं यकारसहितं तत्रेश्वरी देवता।
प्राणं तत्र विलीय पञ्चघटिकं चित्तान्वितं धारये-
देषा खेगमनं करोति यमिनःस्याद्वायवी धारणा
॥५७

टीका—सुरमे जैसे रङ्ग वाले, वर्तुलाकार 'यं' बीज ये युक्त वायु तत्व का, उसके अधिष्ठातृदेवता ईश्वर के सहित भौंहों के मध्य में ध्यान करता हुआ मन-प्राण सहित स्वयं को भी वायु तत्व में लय कर देने से पाँच घड़ी के पश्चात् वायवी धारणा हो जाती है। इससे आकाश-गमन की शक्ति प्राप्त होती है ॥५८

व्याख्या—वायु की धारणा से साधक आकाश में उड़ सकता है। इस विषय में योगतत्वोपनिषत् में अच्छा विवरण उपलब्ध है—

ततोऽपि धारणाद्वायोः क्रमेणैव शनैः शनैः ।
कम्पो भवति देहस्य आसनस्थस्य देहिनः ॥
ततोऽधिकतराभ्यासात् दर्दु रोस्त्वेन जायते ।
यदा च दर्दु ररीभाव उत्प्लुत्योप्लुत्य गच्छति ॥
पद्मासनस्थितो योगी तथा गच्छति भूतले ।
ततोऽधिकतराभ्यासाद् भूमित्यागश्च जायते ॥
पद्मासनस्थ एवासौ भूमिमुत्सृज्य गच्छति ।
अतिमानुषचेष्टादि तथा सामर्थ्य मुद्भवेत् ॥

अर्थात्—फिर वायु की धारणा शक्ति के धीरे-धीरे बढ़ने पर आसन पर बैठे हुए योगी के शरीर में कम्प होने लगता है। फिर अधिक अभ्यास होने पर मेंढ़क जैसी जेष्टा होने लगती है अर्थात् जैसे मेंढ़क उछलता और पुनः भूमि पर आ जाता है, वैसी ही दशा पद्मासन लगाकर बैठे हुए उस योगी की होती है। जब अभ्यास अधिक बढता है, तब वह भूमि से ऊपर उठने लगता है। पद्मासन से बैठा हुआ ही ऊपर उठता रहता है। इस प्रकार वह अतिमानुषी चेष्टाएँ करने लगता है।

आकाश की धारणा

आकाशं सुविशुद्धवारिसदृशं यद्ब्रह्मरन्ध्रस्थितं
तस्मादेन सदाशिवेन सहितं तत्वं हकारान्वितम्।
प्राणं तत्र विलीय पंचघटिकं चित्तान्वितं धारये-
देषा मोक्षकपाटपाटनपटुः प्रोक्ता नभोधारणा
॥५८

टीका—स्वच्छ जल के समान वर्ण, वर्तु लाकार, 'हकार' बीज युक्त आकाश तत्व को अधिष्ठातृदेव सदाशिव के सहित

चिन्तन करे और मन सहित स्वयं भी उसी में लीन हो जाय तो पाँच घड़ी बीतने पर यह नभो धारणा (आकाश की धारणा) सिद्ध हो जाती है। इसके प्रभाव से मोक्ष के बन्द कपाट खुल जाते हैं अर्थात् साधक को मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है ॥५८

व्याख्या—आकाश की यह धारणा अभ्यासी को मोक्ष प्राप्त कराने वाली है। इसमें आकाश तत्व के साथ उसके बीज और अधीश्वर सदाशिव का ध्यान कहना आवश्यक है। योग-तत्पोपनिषत् के अनुसार—

व्योमवृत्तं च धूम्रं च हकाराक्षर भासुरम्।
आकाशे वायुमारोप्य हकारोपरि शंकरम् ॥
बिन्दुरूपं महादेवं व्योमाकारं सदाशिवम्।
शुद्धस्फटिक संकाशं धृतबालेन्दुमौलिनम् ॥
सर्वायुधैर्धृताकारं सर्पभूषणभूषितम्।
उमार्धदेहं वरद सर्वकारणकारणम् ॥
आकाशधारणात्तस्य खेचरत्वं भवेद्ध्रुवम्।
यत्र कुत्र स्थितो वाऽपि सुखमत्यन्तश्नुते ॥

अर्थात्—व्योम वृत्ताकार धूम्रवर्ण, 'हकार' से प्रकाशित है आकाश तत्व से वायु को आरोपित करके महादेव सदाशिव शुद्ध स्फटिक के समान मस्तक में बालचन्द्र धारण किये हुए, सब प्रकार के शास्त्रास्त्रों से सुसज्जित, सब आभूषणों से विभूषित, उमा के अर्धांग, वरदायक, सभी कारणों के कारण हैं, उनकी आकाश में धारणा करने से आकाश-गमन की शक्ति प्राप्त होती है और साधक कहीं भी रहे, अत्यन्त सुखी रहता है।

स्तम्भिनी द्राविणी चैव दाहिनी भ्रामिणी तथा।
शोषिणी च भवत्येषा भूतानां पंच धारणाः ॥५९

कर्मणा मनसा वाचा धारणाः पञ्चदुर्लभाः ।
विज्ञान सततं योगी सर्वदुःखै प्रमुच्यते ॥६०

टीका—पृथिवी की धारणा स्तम्भन करने वाली, जल की धारणा द्राविणी, अग्नि की धारणा दाहिनी, वायु की धारणा भ्रामिणी और आकाश की धारणा शोषिणी होती है। इस प्रकार यह पंचभूतों की पाँच धारणा मानी गई हैं। कर्म, मन, वचन द्वारा इन पाँचों दुर्लभ धारणाओं का अभ्यास दृढ़ होने पर सभी दुःखों से छुटकारा होता है ॥५९-६०

व्याख्या—पृथिवी की धारणा को स्तम्भिनी कहने का अभिप्राय यह है कि इस धारणा का अभ्यास सिद्ध होने से जल-वायु आदि के स्तंभन की सामर्थ्य उत्पन्न हो जाती है। द्राविणी कहने से यह तात्पर्य है कि वारुणी धारणा का अभ्यास दृढ़ होने पर समस्त द्रव्यों को द्रव अर्थात् जल के समान पतले करने की शक्ति आती है। अग्नि की धारणा को दाहिनी इसलिए कहा है कि साधक को इससे बिना अग्नि के ही किसी भी वस्तु को भस्म करने की शक्ति मिल जाती है वायु की धारणा दृढ़ होने पर सम्पूर्ण विश्व को घुमाने में योगी समर्थ होता है। इसीलिए उसे भ्रामिणी कहा है तथा आकाश का धारणा सिद्ध करने वाला सब वस्तुओं को सुखा सकता है इसलिए यह धारणा शोषिणी कहलाती है। कर्मों से अनुष्ठान, मन से चिंतन और शास्त्रसम्मत वचनों से धारणाओं के अभ्यास को दृढ़ कर लेने से सभी मुक्ति मिल जाती है।

ध्यान वर्णन

स्मृत्सेव सर्वचिन्तायां धातुरेकः प्रपद्यते ।
यच्चित्ते निर्मला चिन्ता तद्धिध्यानं प्रचक्षते ॥६१

द्विविधं भवति ध्यानं सकलं निष्कलं तथा।
चर्याभेदन सकलं निष्कलं निर्गुणं भवेत् ॥६२

टीका–'स्मृ' धातु सर्व चिन्तनवाचक है और जो अपने चित्त में आत्मतत्व का चिन्तन करे, उसका वह चिन्तन ध्यान कहलाता है। यह ध्यान सगुण निर्गुण के भेद से प्रकार का माना गया है और सगुण निर्गुण का यह भेद चर्या-भेद से होता है ॥६१-६२

व्याख्या—'स्मृ' धातु से चिन्तन शब्द बना, इसलिए चित्त में चिन्तन करना ही ध्यान है। कुछ लोग कलामय सगुण ब्रह्म का ध्यान करते हैं और कुछ कला रहित अर्थात् निर्गुण ब्रह्म के चिन्तन में तन्मय रहते हैं। शास्त्रोक्त विधि से आकार युक्त या आकार रहित परमात्मा का स्मरण ही ध्यान कहा जाता है। योगतत्वोपनिषत् में सगुण और निर्गुण के ध्यान से होने वाली उपलब्धि पर इस प्रकार प्रकाश डाला गया है—

सगुणध्यानमेतत्स्यादणिमादिगुणप्रदम् ।
निर्गुणध्यानयुक्तस्य समाधिश्च ततो भवेत् ॥

अर्थात्—सगुण रूप का ध्यान करने पर अणिमादि सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं और निर्गुण का ध्यान करने से समाधि की प्राप्ति होती है।

इस प्रकार शास्त्रों में आत्म-चिन्तन या ब्रह्म-चिन्तन का निर्देश मिलता है, वहाँ देवी-देवताओं के स्वरूप या उनकी प्रस्तर मूर्ति आदि के ध्यान की परिपाटी प्रचलित है। ध्यान के इन भेदों में आत्मचिन्तन निर्गुण और प्रस्तर मूर्तियों या स्वरूपों का ध्यान सगुण समझना चाहिए।

आत्म-चिन्तन या ब्रह्म-चिन्तनका उद्देश्य संसार-त्यागऔर मोक्ष की प्राप्ति है, जब कि सगुण उपासना का उद्देश्य लौकिक सुखों और ऐश्वर्य को प्राप्त करना है। इससे भी यह लाभ होता

है कि लौकिक सुखों की कामना के साथ साधना करने से भी साधक की मनो भूमि तो बनती ही है और यदि वह ईश्वर-चिन्तन की दृढ़ता को वढ़ाता जाय तो धीरे-धीरे अध्यात्म मार्ग पर चल कर ब्रह्मप्राप्ति के परम कल्याणकारी लक्ष्य की ओर बढ़ सकता है क्योंकि देवी-देवताओं की उपासना भी परमात्मा के एक रूप की प्रतीक होने के कारण उन्हीं का पूजन समझना चाहिए। इसीलिए ग्रन्थकार ने यहाँ सगुण और निर्गुण दो प्रकार के ध्यानों का निर्देश किया है।

ध्यान से पाप-निवारण

अन्तश्चेतो बहिश्चक्षुरधः स्थाप्य सुखासनः।
कुण्डलिन्या समायुक्तं ध्यात्वा मुच्येत किल्विषात्।६३
आधारं प्रथमं चक्रं स्वर्णाभं च चतुर्दलम्।
कुण्डलिन्या समायुक्तं ध्यात्वा मुच्येत किल्विषै॥६४
स्वाधिष्ठाने च षट्पत्रे सन्माणिक्यसमप्रभे।
नासाग्रदृष्टिरात्मानं ध्यात्वा योगी सुखी भवेत्॥६५

टीका—सुखासन लगाकर आधारादि चक्रों में मन को युक्त करे और सम्यक् प्रकार से नासिका के अग्रभाग में दृष्टि करके कुण्डलिनी सहित ध्येय का ध्यान करे तो सभी पापों से मुक्त हो जाता है। ध्यानयोग्य स्थानों में प्रथम स्वर्ण आभा वाला चार दल कमल का मूलाधार चक्र है। इसका कुण्डलिनी के सहित ध्यान करने से सभी पापों से छुटकारा हो जाता है। दूसरा स्थान स्वाधिष्ठान चक्र है, जो कि छः दल कमल और माणिक्य के समान लाल वर्ण का है। नासाग्र दृष्टि में उस चक्र के साथ आत्मा का ध्यान करने से योगी सुखी होता है।६३-६५

व्याख्या—इसमें सुखासन लगाकर षट्चक्रों में मन को योजित करने का उपदेश है। इस आसन के विषय में त्रिशिख-

ब्राह्मणोपनिषत् में स्पष्ट रूप से प्रकाश डाला गया है—

येन केन प्रकारेण सुखं धार्यं च जायते ।
तत्सुखासनमित्युक्तमशक्तस्तत्समाचरेत् ।
आसनं विजितं येन जितं तेन जगत्त्रयम् ।।

अर्थात्–जिस प्रकार से बैठने पर सुख और स्थैर्य की प्राप्ति हो, उसी प्रकार बैठना सुखासन कहलाता है। जो साधक असमर्थता के कारण अन्य आसनों को न लगा सके वह उसे लगावे। जिसने आसन को जीत लिया, उसने तीनों लोकों को जीत लिया।

आधारादि छः चक्रों के भेदन से कुण्डलिनी ब्रह्मरन्ध्र में पहुँच कर शिव से जा मिलती है। 'चतुर्दलं स्यादाधारं स्वाधिष्ठानं च षड्दलम्' (यो० चू० उ०) अर्थात् 'आधार चक्रों का दल और स्वाधिष्ठान चक्र के छः दल होते हैं।' इन चक्रों का कुण्डलिनी के सहित ध्यान करके साधक को अभूतपूर्व उपलब्धियाँ हो सकती हैं। इसके द्वारा सभी पापों से मुक्त होना तो सामान्य बात है।

स्वाधिष्ठान चक्र के अधिष्ठातृ देवता चतुर्भुज भगवान् विष्णु हैं। उस चक्र के ध्यान में आत्मा का ध्यान निहित है। आत्मा को ध्येय मानकर ध्यान करना साधक के लिए परम आनन्द प्रदान करने वाला है। इस चक्र में ध्यान करने वाला सगुण उपासक भगवान् विष्णु का ध्यान करके इच्छित प्राप्त करता है और आत्मा का ध्यान करने वाला निर्गुण उपासक मोक्ष रूप परमानन्द में स्थित होता है।

ध्यान से सामर्थ्य-प्राप्ति

तरुणादित्यसंकाशे चक्रे च मणिपूरके ।
नासाग्रदृष्टिरात्मानं ध्यात्वा संक्षोभयेज्जगत् ।।६६

हृदाकाशे स्थितं शम्भुं प्रचण्डरवितेजसम् ।
नासाग्रे दृष्टिमाधाय ध्यात्वा ब्रह्ममयो भवेत् ॥६७
विद्युत्प्रभे च हृत्पद्मे प्राणायामविभेदतः ।
नासाग्रदृष्टिरात्मानं ध्यात्वा ब्रह्ममयो भवेत् ॥६८

टीका—मणिपूरक चक्र तरुण सूर्य के समान है। नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि रख कर चक्र में आत्मा का ध्यान करने वाला योगी जगत् को क्षुभित करने में समर्थ होता है। हृदयाकाश में स्थित अनाहत चक्र प्रचण्ड सूर्य के समान तेजस्वी है। उसका नासाग्र दृष्टि से ध्यान करने पर ब्रह्ममय हो जाता है। प्राणायाम के भेद से विद्युत् के समान हृदय कमल में नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि रख कर जो योगी ध्यान करता है, वह ब्रह्ममय हो जाता है ॥६६-६८

व्याख्या—मणिपूरक चक्र तीसरा है उसके अधिष्ठातृ देवता त्रिनेत्र रुद्र है और हृदय के मध्य अनाहत चक्र है, जिससे अधिपति ईशान अथवा ईश्वर हैं। इनमें से मणिपूरक में भगवान् रुद्र का ध्यान सिद्ध होता है और अनहत चक्र में ईश्वर का चिंतन किया जाता है। योग चूड़ामण्युपनिषत् के अनुसार 'मणिपूरक चक्र मणि के समान आकार का है, वह विद्युत धारा के समान प्रकाशित और तपाये हुए स्वर्ण के समान चमकदार है। 'तन्नाभिमण्डले चक्र प्रोच्यते मणिपूरकम्' अर्थात् वह नाभिमंडल में स्थित चक्र मणिपूरक कहा जाता है। वह चक्र पाप-पुण्य से रहित है। उस चक्र में जब तक जीव तत्व का दर्शन नहीं कर लेता तब तक संसार-चक्र में भ्रमता रहता है 'तावज्जीवो भ्रमत्येवं याव त्तत्व न विन्दति'। (यो० चू० उ०)

हृदय में स्थित अनाहत चक्र ही ओंकार रूप शब्द ब्रह्म हैं इन्हीं ओंकार के ध्यान से ब्रह्ममय हो जाना कोई विस्मय की बात नहीं। मैत्रेय्युपनिषत् के 'आकारोंकाररूपोऽस्मि मकारोऽस्मि सनातनः' इत्यादि के अनुसार 'अकार', 'उकार', 'मकार' रूप ओंकार रूप में ही सनातन ब्रह्म हूँ, इस प्रकार से आत्मा का ओंकार रूप से हृदय में ध्यान करने का निर्देश है।

आत्मध्यान से अमरत्व प्राप्ति

सततं घण्टिकामध्ये विशुद्धे दीपकप्रभे।
नासाग्रदृष्टिरात्मानं ध्यात्वानन्दमयो भवेत् ॥६९
भ्रुवोरन्तर्गतं देवं सन्माणिक्यशिखोपमम्।
नासाग्रदृष्टिरात्मानं ध्यात्वानन्दमयो भवेत् ॥७०
ध्यायन्नीलनिभं नित्यं भ्रूमध्ये परमेश्वरम्।
आत्मानं विजितप्राणो योगीमोक्षमवाप्नुयात् ॥७१
निर्गुणं च शिवं शान्तं गगने विश्वतोमुखम्।
नासाग्रदृष्टरेकाकी ध्यात्वा ब्रह्ममयो भवेत् ॥७२

टीका—कण्ठ स्थान में दीप-ज्योति के समान प्रभा वाले विशुद्ध चक्र में नासाग्र दृष्टि रख कर आत्मा का ध्यान करने से साधक आनन्दमय हो जाता है। भौंहों के मध्य में मणि की शिखा के समान आत्मा में नासाग्र दृष्टि से ध्यान करने से आनन्दमय होता है। वहीं नीलाभ परमेश्वर शिव का भौंहों के नित्य ध्यान करता हुआ योगी प्राण को जीतकर जीव-ब्रह्म की एकता स्थापित करता है। नासिका के अग्र भाग में निर्गुण, शान्त, विश्वतोमुख, आकाश के समान व्यापक शिव का ध्यान

करने वाला योगी स्वयं भी एकाकी ब्रह्ममय हो जाता है ।।६९-७२।।

व्याख्या—विशुद्ध चक्र का स्थान कण्ठ है, वह दीपक के समान ज्योतिर्मान् है। इस चक्र के अधिपति सदाशिव हैं। इसलिए कण्ठ में स्थित विशुद्धचक्र में भगवान् शिव का ध्यान करने का विधान है ऐसा करने वाले को परमानन्द की प्राप्ति होती है।

भौंहों के मध्य आज्ञाचक्र में परमेश्वर शिव का ध्यान किया जाता है। उस समय साधक अपने को शिवस्वरूप मानकर आत्मा का ध्यान करे, जिससे कि जीवात्मा-परमात्मा को ऐक्य की प्राप्ति हो सकती है। शास्त्रों में जीव को उसका यथार्थ स्वरूप समझते हुए बार-बार यही कहा है कि 'तू ब्रह्म ही है' अथवा 'तू ब्रह्म से भिन्न नहीं है।' इस प्रकार अपने को ब्रह्म मानना ही वास्तविकता है। सोऽहमिति स ब्रह्मविद्भवति' (शां. उ.) अर्थात् वह ब्रह्म मैं ही हूँ ऐसा भाव रखने वाला साधक ब्रह्मवेत्ता हो जाता है।

तेजोबिन्दूपनिषत् में अपने को ही ब्रह्म मानने का उपदेश करते हुए कहा गया है—

परब्रह्मस्वरूपोऽहं परमानन्दमस्म्यहम् ।
केवलं ज्ञानरूपोऽहं केवलं परमोऽस्म्यहम् ।।
केवलं शान्तरूपोऽहं केवलं चिन्मयोऽस्म्यहम् ।
केवलं नित्यरूपोऽहं केवलं शाश्वतोऽस्म्यहम् ।।

अर्थात्—मैं परब्रह्मरूप एवं परमानन्दमय हूँ। मैं ही केवल ज्ञान स्वरूप परमात्मा हूँ। मैं ही केवल शान्त, चैतन्य, नित्य एवं शाश्वत हूँ।

ग्रन्थकार के अनुसार आत्मा रूप से परमात्मा शिव का ध्यान करना चाहिए। पैंगलोपनिषत् में आत्मा-परमात्मा के ऐक्य का प्रतिपादन यथार्थ रूप से किया है—

आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्महर्षयः।
ततो नारायणः साक्षाद्हृद ये सुप्रतिष्ठतः ॥

अर्थात्—महर्षियों का कथन है कि यह आत्मा इन्द्रियों और मन से सम्पन्न होकर भोक्ता बनता है और वही हृदय में साक्षात् नारायण के रूप में निवास करता है।

इस प्रकार आत्मा में परमात्मा का ध्यान करने से साधक स्वयं परब्रह्म ही हो जाता है।

ध्यान से कैवल्य मोक्ष

आकाशे यत्र शब्दः स्यात्तदाज्ञाचक्रमुच्यते।
तत्रात्मानं शिवंध्यात्वा योगी मुक्तिमवाप्नुयात्।७३
निर्मलं गगनाकारं मरीचिजलसन्निभम्।
आत्मानं सर्वगं ध्यात्वा योगीमुक्तिमवाप्नुयात्।७४

टीका—जहाँ नाद का प्राकट्य होता है, वह आकाश मन का स्थान है, उसी को आज्ञा चक्र कहते हैं। वहीं आत्मा में शिवजी का ध्यान करके योगी मोक्ष को प्राप्त होता है। वह ध्यान इस प्रकार है कि निर्मल, व्योमाकार, मरीचिजल के समान एवं सर्व व्यापक आत्मा का ध्यान करके योगी मोक्ष को प्राप्त होता है ॥७२-७४

व्याख्या—आज्ञाचक्र की स्थिति भौंहों के मध्य भाग में है वहाँ आकाश से तात्पर्य भौंहों से ही है। इसके अधिपति देवता

श्वेत वर्ण वाले त्रिनेत्र शिवजी माने जाते हैं। इसलिए आज्ञा-चक्र में आत्मारूप से शिवजी का ध्यान करना चाहिए। रुद्र-हृदयोपनिषत् में कहा है—

अन्तरात्मा भवेद्ब्रह्मा परमात्मा महेश्वरः ।
सर्वेषामेव भूतानां विष्णुरात्मा सनातनः ॥

अर्थात्—सभी जीवों के शरीर में अन्तरात्मा ब्रह्मा, परमात्मा महेश्वर और आत्मा विष्णु हैं।

इस प्रकार अन्तरात्मा, परमात्मा और आत्मा यह सब कुछ एक ही है। इसीलिए आत्मरूप से शिवजी का ध्यान करने का निर्देश किया गया है। षट्चक्रों में आज्ञाचक्र छठवाँ है, इस चक्र में ध्यान करने की विशेषता यह है कि साधक इसके सिद्ध होने पर सर्व समर्थ हो जाता है। क्योंकि इस चक्र का भेदन होते ही कुण्डलिनी शक्ति किसी प्रकार के अवरोध के बिना ही सहस्रार कमल में पहुँचकर परमशिव से ऐक्य स्थापित कर लेती है। इसीलिए यह साधन योगियों के लिए मोक्ष का देने वाला कहा गया है। योगकुण्डल्युपनिषत् में कहा है—

प्रकृत्यष्टकरूपं च स्थानं गच्छति कुण्डली ।
क्रोडीकृत्य शिवंयाति क्रोडीकृत्य विलीयते ॥

अर्थात्—तब कुण्डलिनी अष्टधा प्रकृति को प्राप्त होकर शिव के साथ मिलती है और उसी के साथ लय को प्राप्त हो जाती है।

ध्यान से अष्टसिद्धि लाभ

गुदं मेढ्ं च नाभिश्च हृत्पद्मं तं हूर्ध्वतः ।
घण्टिका लम्बिकास्थानं भ्रूमध्ये चनभोबिलम्।७५

कथितानि नवैतानि ध्यानस्थानानि योगिभिः ।
उपाधितत्वमुक्तानि कुर्वन्त्यष्टगुणोदयम् ॥७६
एषु ब्रह्मात्मकं तेजः शिवज्योतिरणुत्तमम् ।
ध्यात्वा ज्ञात्वा विमुक्तः स्यादिति गोरक्षभाषितम् ॥७७

टीका—गुद, मेढ्र, नाभि, हृदयकमल, उससे ऊपर घण्टिका स्थान, भौंहों के मध्य का स्थान और नभोबिल, यह नौ स्थान ध्यान के योग्य माने गए हैं, योगिजन उक्त नौ स्थानों का ध्यान के लिए उपयोगी कहते हैं, इनमें उपाधि तत्वों को सम्मिलित करके ध्यान करने से अष्ठ सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं इन स्थानों में तेजोमय, ब्रह्मात्मक, श्रेष्ठ ज्योतिस्वरूप शिव का ध्यान करके और उन्हें जानकर योगी मुक्त हो जाता है, यह गोरक्षनाथ का कथन है ॥७५-७७

व्याख्या—योगशास्त्रियों ने ध्यान के लिए नौ स्थान उपयुक्त कहे हैं–(१) गुदा अर्थात् मूलाधार चक्र, (२) मेढ्र अर्थात् स्वाधिष्ठान चक्र, (३) नाभि अर्थात् मणिपूर चक्र, (४) हृदय कमल यानि अनाहत चक्र, (५) उससे ऊपर यानि विशुद्ध चक्र, (६) घंटिकामूल, (७) लम्बिका स्थान, (८) भौंहों के मध्य का स्थान यानी आज्ञाचक्र और (९) नभोबिल अर्थात् शून्य स्थान। इन स्थानों की उपाधि से युक्त करने का तात्पर्य है। पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश रूप पाँच तत्वों से युक्त करना। क्योंकि शरीर पंचभूतात्मक है इसलिए उसमें जो नौ स्थान हैं उनकी उपाधि यह पंचतत्व है।

इस प्रकार योगाभ्यासी के लिए शरीर के उक्त नौ अंग ध्यान के लिए प्रशस्त माने गए हैं। मुमुक्षुजनों को इनका ज्ञान प्राप्त करके इन्हीं ध्यान करने का अभ्यास सिद्ध करना चाहिए।

कुण्डलिनी शिव मिलन

नाभौ संयम्य पवनगतिमधो रोधयसंप्रयत्नादा-
कुञ्चयापानमूलं हुतवहसदृशं तन्तुवत्सूक्ष्मरूपम् ।
तद्वद्ध्वा हृत्सरोजे तदनु दलणके तालुके ब्रह्मरन्ध्रे
भित्वाते यान्ति शून्यं प्रविशति गगने यत्र देवोमहेशः ।७८

टीका—चित्त को मणिपूर चक्र में लगाकर अपान द्वार को संकुचित-विस्तृत करता हुआ योगी अपान की नीचे की गति रोककर ऊपर की ओर खींचे जिससे कि वह मन और प्राण से संयुक्त हो जाय। फिर उसे ऐक्य में अग्नि के समान दमकते हुए ज्योति स्वरूप का ध्यान करे, जिससे वह ज्योति मणिपूर चक्र का बेधन कर हृदयपद्म स्थित अनाहृत चक्र में पहुँचती है और अभ्यास की सिद्धि होने पर अनाहृत चक्र को भी वेधती हुई ब्रह्मरन्ध्र तक जा पहुँचता है और फिर शरीर छोड़ने के समय ब्रह्मरन्ध्र को भी त्यागकर परम शून्य स्वरूप महेश्वर ब्रह्म में जाकर लय को प्राप्त होती है ।।७८

व्याख्या—यह कुण्डलिनी जागरण की प्रक्रिया है। इस विषय में योगकुण्डल्युपनिषत् में विस्तृत वर्णन मिलता है। उसके कुछ अंश-उद्धरण करना उचित होगा—

अपान चोर्ध्वगे याते संप्राप्ते वह्निमण्डले ।
ततोऽनलशिखा दीर्घा वर्धते वायुना हता ।।
ततो यातौ वह्न्यपानौ प्राणमुष्णस्वरूपकम् ।
तेनात्यन्त प्रदीप्तेन ज्वलनो देहजस्तथा ।।
तेन कुण्डलिनी सुप्ता सन्तप्ता संप्रबुध्यते ।
दण्डाहत भुजंगीव निश्वस्य ऋजुतां व्रजेत् ।।

बिल प्रवेशतो यत्र ब्रह्मनाड्यन्तरं व्रजेत् ।
ब्रह्मग्रन्थि ततो भित्वारजोगुण समुद्भवम् ।।

अर्थात्—जब अपान ऊपर जाकर वह्निमण्डल से मिलता है, तब उसके प्रभाव से अग्नि की तीव्रता अत्यधिक बढ़ जाती है। उस उत्ताप से सन्तप्त होकर सोई कुण्डलिनी जाग्रत् हो जाती है और डंडे से मारी जाने वाली सर्पिणी के समान फुंकार कर सीधी हो जाती है और बिल में प्रवेश करने के समान सुषुम्ना नाड़ी के भीतर प्रवेश करती है। इस प्रकार ब्रह्मग्रन्थि को भेदकर वह कुण्डलिनी विद्यु त-रेखा के समान सुषुम्ना में चढ़ने लगती है।

इसी उपनिषत् में आगे की प्रक्रिया बताते हुए कहा है कि फिर वह शीघ्र ही हृदय-स्थित विष्णु-ग्रन्थि को प्राप्त होकर और भी ऊपर अर्थात् आज्ञाचक्र तक पहुँचकर रुद्रग्रन्थि में पहुँची है और वहाँ से भौंहों के मध्य स्थान का भेदन करती हुई चन्द्रमा के स्थान में पहुँचती हैं, जहाँ षोडशदल का अनाहत चक्र स्थित है। वहाँ वह चन्द्रमा से उत्पन्न द्रव को सोख लेती है और तब प्राणवायु के वेग से रक्त-पित्त का शोषण सूर्य कर लेता है। चन्द्र मण्डल में जाकर कुण्डलिनी वहाँ के पदार्थ को सोखती है। और इसके प्रभाव से जो चित्त पहले बाह्य पदार्थों में संलग्न था वह परमार्थ में लगकर आत्मानन्द का उपभोग करने लगता है, इससे अधोभाग का रज और ऊपर का शुक्र मिलकर शिव में लीन हो जाते हैं तथा प्राण-अपान का भी उन्हीं में लय हो जाता है।

इस प्रकार यह कुण्डलिनी जागरण और षट्चक्र भेदन की क्रिया हुई। इसके द्वारा साधक ब्रह्मरूप मोक्ष में लय को प्राप्त होता है।

नाभौ शुभ्रारविन्दं तदुपरि विमलं मण्डलं चण्डरश्मेः ।
संसारस्यैकरूपां त्रिभुवनजननी धर्मदात्रीं नराणाम् ।
तस्मिन्मध्ये त्रिमार्गे त्रितयतनुधरां छिन्नमस्तांप्रशस्तां
तां वन्दे ज्ञानरूपां मरणभयहरां योगिनीज्ञानमुद्राम्
॥७९

टीका—नाभि में शुभ्र पद्म का चिन्तन करता हुआ योगी उसके मध्य में प्रचण्ड रश्मियों वाले सूर्यमण्डल का ध्यान करे जिसमें संसार-कारण-स्वरूपा, त्रिभुवन की जननी, परम धर्म देने वाली, त्रिगुणात्मिका, त्रिमार्गा, त्रितय तनु धारणी भागवती छिन्नमस्ता, ज्ञानस्वरूपा एवं भासमाना कुण्डलिनी की मैं वन्दना करता हूँ। वह ज्ञान मुद्रारूपिणी भगवती मरण-भय का हरण करने वाली है ॥७९

व्याख्या—नाभि स्थित मणिपूर चक्र में सूर्य का ध्यान करता हुआ योगी भगवती कुण्डलिनी की वन्दना करे। वह कुण्डलिनी सत्व, रज, तम रूप तीन गुणों के कारण तीन उपाधियों वाली होकर विद्यमान रहती हैं कुण्डलिनी से ही तीनों लोकों की उत्पत्ति है, वही मनुष्यों को योगमार्ग से मोक्ष स्वरूप धर्म प्रदान करती है। वही ज्ञान रूपिणी ब्रह्मादि देवताओं द्वारा स्तुत्य और छिनमस्ता नाड़ी स्वरूपा है। उसको प्रसन्न करने वाला साधक मरण भय से छूट जाता है।

कुण्डलिनी को मरणभय की नष्ट करने वाली कहने का कारण यह भी है कि कुण्डलिनी के प्रबुद्ध हुए बिना किसी मन्त्र का कार्यकारी होना नहीं बनता। गौतमीय तन्त्र में कहा है—

नागर्ति यदि सा देवी बहुभिः पुण्यसंचयैः ।
तदा प्रसादमायाति मंत्रयंत्रार्चनादिकम् ॥

अर्थात्—यदि वह देवी अनेक पुण्यों के संचय होने पर उनके प्रभाव से जाग्रत हो जाती है, तभी प्रसन्नता से मन्त्र-यन्त्र पूजनादि में सिद्धिलाभ सम्भव है।

ध्यानयोग की श्रेष्ठता

अश्वमेधसहस्राणि वाजपेयशतानि च।
एकस्य ध्यानयोगस्य तुलां नार्हन्ति षोडशीम् ।८०

टीका—सहस्रों अश्वमेध और सैकड़ों वाजपेय यज्ञ का फल भी अकेले ध्यान योग के सोलहवें अंश के समान नहीं हो सकता ।।८०

व्याख्या—ध्यान योग के बराबर कोई अन्य साधना नहीं है, बड़े से बड़े यज्ञ भी इसकी तुलना नहीं कर सकते। जब साधक मन के द्वारा यथार्थ के विचार में समर्थ हो जाता है और निरन्तर उसी विचार में स्थिर रहता है तो वह अवस्था ध्यान की होती है। इसीलिए बहुत-से विद्वान योग के अन्य अङ्गों को गौण रूप से मानते हुए ध्यान पर ही अधिक बल देते हैं।

समाधि वर्णन

उपाधिश्च तथा तत्वं द्वयमेतदुदाहृतम्।
उपाधिः प्रोच्यते वर्णस्तत्वमात्माभिधीयते ।।८१
उपाधेरन्यथा ज्ञानतत्वसंस्थितिरन्यथा।
समस्तोपाधिविध्वंसी सदाभ्यासेन जायते ।।८२

टीका—उपाधि और तत्व यह दोनों ही विचार करने के योग्य हैं। उपाधि वर्ण को और तत्व आत्मा को कहते हैं, उपाधि

विपरीत बोध कराती हैं, और जब बुद्धि से यथार्थ ज्ञान होता है, तभी आत्मा का अनुभव होता है। यह सभी उपाधि नाशवान हैं, परन्तु सतत अभ्यास से ही इनका नष्ट होना सम्भव है ।।८१-८२

व्याख्या—जैसे श्वेत वर्ण के काँच को किसी लाल वस्तु पर रख दें तो वह काँच भी रंग रूप उपाधि के सम्बन्ध से लालवर्ण का प्रतीक होता है, वैसे ही देह में स्थित विशुद्ध आत्मा ही देह रूप उपाधि के कारण 'मैं सुखी' या 'मैं दुःखी' इत्यादि देहाभ्यास का अनुभव करने लगता है। यथार्थ में तो वह देह से नितान्त भिन्न है, परन्तु आत्मस्वरूप का अनुभव होने से ही यथार्थ ज्ञान हो सकता है। परन्तु यह ज्ञान किसी अन्य उपाय से नहीं हो पाता इसके लिए तो योग के निरन्तर अभ्यास करने की आवश्यकता होती है।

उपाधि और तत्व को क्रमशः वर्ण और आत्मा कहने का अभिप्राय है कि उपाधि 'प्रणव' रूपी वर्ण है और तत्वको आत्मा कहते हैं। इससे आत्मा रूपी तत्व का वर्ण प्रणव कहना बनता है। आत्मा ही परमात्मा है और निरूपाधि परमात्मा में एकाक्षर प्रणव के रूप में ब्रह्म को निहित माना है तो इस प्रकार कुछ बिद्वानों के विचार में ओंकार रूप एकाक्षर ब्रह्म तत्व रूप आत्मा की उपाधि है। परन्तु ओंकार में तीन देवता, तीन लोक, तीन वेद, तीन अग्नियाँ और साथ ही तीन मात्राएँ एवं अर्द्ध मात्रा भी उसी में मानकर उसे शिवत्व का स्वरूप स्वीकार किया है।

इस प्रकार ब्रह्मवेत्ताओं ने 'ओमित्येकाक्षरं ब्रह्मं प्रणवोपनिषत्' अर्थात् 'ॐ एकाक्षर ब्रह्म है' ऐसा कहकर वर्ण और

तत्व के भेद को दूर करने का प्रयत्न किया है, जिससे आत्मा-परमात्मा की अभिन्नता सिद्ध होती है और ऐसा यथार्थ ज्ञान योगाभ्यास से प्राप्त हो सकता है।

ध्यान और समाधि भेद

शब्दादीनां च तन्मात्रं यावत्कर्णादिषु स्थितम् ।
तावदेवं स्मृतं ध्यानं समाधिः स्यादतः परम् ॥८३

टीका—जब तक कर्ण आदि पंच ज्ञानेन्द्रियों में उनके शब्दादि विषयों का किंचित् भी अंश विद्यमान रहता है तब तक साधक की ध्यानावस्था रहती है और जब पांचों इन्द्रियों की वृत्तियाँ निःशेष भाव से आत्मा में लीन हो जाता है, तब समाधि अवस्था हो जाती है ॥८३

व्याख्या—ध्यानावस्था के परिपक्व होने पर ही समाधि की अवस्था हो सकती है। जब तक साधक को इद्रियों की वृत्तियों का किंचित् भी आभास होता है, तब तक ध्यानावस्था ही रहती है और जब उन वृत्तियों का सम्पूर्ण रूप से लय हो जाता है, तब ध्यान की अवस्था ही समाधि की अवस्था में परिवर्तित हो जाती है। महर्षि पतंजलि ने ध्यान और समाधि के भेद को इन सूत्र में स्पष्ट कर दिया है—

तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् (यो. द. ३।२) अर्थात् 'जहाँ चित्त को ठहराया जाय, उसी में वृत्ति का एक-सी बना रहना है।' अब समाधि का स्वरूप वर्णन करते हैं—

'तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः' (यो.द. ३।३) अर्थात्' जिस अवस्था में केवल ध्येय मात्र को ही प्रतीत होने लगे

और चित्त का अपना स्वरूप भी शून्य हो जाय, वह (ध्यान ही) समाधि है। इससे सिद्ध हुआ कि जब तक ध्येयके अतिरिक्त किसी अन्य विषय का किंचित् भी अंश शेष रहे तब तक समाधि की अवस्था नहीं होती।

धारणा पञ्चनाडीभिर्ध्यानं च षष्टनाडीभिः ।
दिनद्वादशकेन स्यात्समाधिः प्राणसंयमात् ॥८४

समाधि विषयक दृष्टान्त

यत्सर्वं द्वन्द्वयोरैक्य जीवात्मपरमात्मनो ।
समस्तनष्टसंकल्पः समाधिः साभिधीयते ॥८५

टीका—प्राणवायु का पांच घड़ी तक अवरोध करना धारणा साठ घड़ी तक चित्त को एकाग्र रखना ध्यान और बारह दिनों तक प्राणों का निरन्तर संयम करना ही समाधि है। सभी द्वन्द्वों का अन्तरूपी ऐक्य अर्थात् जीवात्मा परमात्मा का ऐक्य जान कर सभी संकल्पों को नष्ट करता हुआ साधक ध्येय में ही लीन हो जाय उसी अवस्था को समाधि कहते हैं ॥८४-८५

व्याख्या—धारणा की सिद्धि पाँच घड़ी तक प्राण वायु को यथा विधि रोकने से होती हैं और चित्त को एकाग्र रखकर साठ घड़ी तक ध्येय के चिन्तन में लगाये रखना ध्यान कहलाता है। परन्तु समाधि के लिए आवश्यक है कि साधक सभी द्वन्द्वों को भूल जाय। वे द्वन्द्व क्या हैं ? यह शंका हो सकती है इसलिए उसका समाधान यह है कि क्षुधा-पिपासा, उष्ण-शीत या सुख-दुःख आदि का अनुभव द्वन्द्व है। जब इनका अनुभव न होने लगे

और साधक आपे को भी भूलकर आत्मा-परमात्मा के भेद को त्याग कर उनके ऐक्य को जानकर आत्मा-रूप ध्येय के साक्षात्कार की उत्कण्ठा में सभी संकल्प-विकल्पों को भी छोड़कर उसी में तन्मय हो जाय, वह अवस्था समाधि समझनी चाहिए।

अम्बुसैन्धवयोरैक्यं यथा भवति योगतः।
यदात्ममनसोरैक्यं समाधिः सोऽभिधीयते ॥८६
यदा संक्षीयते प्राणो मानसं च प्रलीयते।
यदा समरसत्वं च समाधि, सोऽभिधीयते ॥८७

टीका—जैसे जल में सेंधा नमक डाल देने से वे दोनों एक हो जाते हैं, वैसे ही आत्मा और मन का एक हो जाना समाधि कहलाता है। जब स्थिर हुआ प्राणवायु आत्मा में ही लीन हो जाता है और जब जीवात्मा-परमात्मा में रस की समानता जैसा ऐक्य हो जाय, उस अवस्था को समाधि कहते हैं ॥८६-८७

व्याख्या—जल में नमक डाल दें तो नमक उसमें इतना घुल जाता है कि उसका अपना रूप बिल्कुल नष्ट हो जाता है अर्थात् नमक जल में तादात्म्य हो जाता है। इसी प्रकार प्राणवायु को संयमित कर लिया जाय तो वह आत्मा से तादात्म्य भाव को प्राप्त हो जाता है, उस अवस्था में प्राण का अपना पृथक् अस्तित्व नहीं रहता। यह अवस्था समाधि कहलाती है।

अथवा जीवात्मा-परमात्मा एक रस हो जाय तो समाधि की अवस्था होती है। योगी पुरुष दृढ़ अभ्यास के द्वारा अपने आत्मा को परमात्मा में लीन कर लेता है, जिससे उसका आपा नष्ट हो जाता है। और उसे केवल परमात्मा ही दिखाई देता है। उसको

वही अवस्था समाधि कही जाती है। योगतत्वोपनिषत् में कहा है—

दिनद्वादशकेनैव समाधि समवाप्नुयात्।
वायु निरुध्य मेधावी जीवन्मुक्तो भवत्ययम् ॥

अर्थात्—(योगाभ्यासी पुरुषध्यानावस्था के सिद्ध होने पर) बारह दिनों में ही समाधि को सिद्ध कर लेता है। इस प्रकार प्राण का निरोध करने वाला मेधावी पुरुष जीवन्मुक्त हो जाता है।

इस प्रकार प्राणवायु की स्थिरता से ही योग सिद्धि सम्भव है, उसी से ध्यानावस्था और उसी से समाधि की अवस्था होती है। इसीलिए साधक को प्राण में स्थिरता लाने का अभ्यास करना चाहिए।

समाधि में वस्तु ज्ञान का अभाव

न गन्धं न रसं रूपं न च स्पर्श न निःस्वनम्।
नात्मानं न परस्वं च योगी युक्तः समाधिना ॥८८

टीका—जो योगी समाधि में लीन हो जाता है, उसे गन्ध, रस, रूप, स्पर्श, शब्द इन पंच विषयों का तथा अपने-पराये का ज्ञान नहीं होता ॥

व्याख्या—जब समाधि की अवस्था में सभी इन्द्रियाँ मन में लीन हो जाती हैं, तब उन इन्द्रियों के गन्ध रसादि विषयों का अनुभव दूर हो जाता है उस समय साधक को अपने शरीर का भी ध्यान नहीं रहता और पराया तो उसके लिए कुछ रहता ही नहीं।

अभेद्यः सर्वशस्त्राणामवध्यः सर्वदेहिनाम् ।
अग्राह्यो मन्त्रयन्त्राणां योगी युक्तःसमाधिना ॥८९
बाध्यते न स कालेन लिप्यते न स कर्मणा ।
साध्यते न च केनापि योगीः युक्त समाधिना ॥९०

टीका—समाधियुक्त योगी शस्त्रों के द्वारा नहीं छेदा जा सकता । वह किसी भी शरीर धारी द्वारा नहीं मारा जाता । उस पर कोई मन्त्र, यन्त्र आदि का प्रयोग भी प्रभावकारी नहीं होता । वह काल के द्वारा बाधित नहीं होता और न कर्मों में ही लिप्त होता है । जो योगी समाधि में लीन हो जाता है, उसे कोई किसी प्रकार भी वश में नहीं कर सकता ॥८९-९०

व्याख्या—समाधिस्थ योगी को कोई भी अस्त्र-शस्त्र काट या छेद नहीं सकता । कोई-मनुष्य, सिंह, व्याघ्रादि हिंसक पशु अथवा सर्प, बिच्छू आदि विषैले जीव उसका कुछ भी नहीं बिगाड़ सकते । उस पर मारण उच्चाटन आदि मन्त्र-यन्त्रों का प्रयोग भी निष्फल रहता है, कोई वासनामय साधन उसे लुभाने में समर्थ नहीं होता है ।

युक्ताहारविहारस्थ युक्तचेष्टस्यकर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगी भवति दुखहा ॥९१

टीका—यो योगी युक्त, आहार-विहार, युक्त चेष्टा, युक्त स्वप्न और जागरण में स्थित रहता है, उसका योग दुःखों को दूर करने वाला होता है ॥९

व्याख्या—योगी को आहार-विहार उचित यानी संयमित

रहना चाहिए, वह अपनी चेष्टा अर्थात् हाव-भाव भी उचित एवं स्वाभाविक रखे और स्वप्न तथा जाग्रत् अवस्थाओं को भी समान बनाये रहे। इस प्रकार सभी क्रियाओं में भले प्रकार सावधान रहे तो उसे किसी भी प्रकार दुःख नहीं हो सकता। कहने का अभिप्राय यह है कि योगी को योगाभ्यास में तत्पर रहते हुए अपनी सभी क्रियाओं पर नियन्त्रण रखना चाहिए जिससे कि उसे कोई कष्ट न हो। ब्रह्मविद्योपनिषत् में कहा है—

एते गुणाः प्रवर्तन्ते योगमार्गकृतश्रमैः।
यस्माद्योगं समादाय सर्वदुःख बहिष्कृतः॥

अर्थात्—योगाभ्यास में जो श्रम किया जाता है उसमें इतने गुण हैं कि उनके द्वारा सब दुःख दूर हो जाते हैं। इसलिए उसमें प्रयत्नशील रहना चाहिए।

निराद्यं तं निरालम्बं निष्प्रपञ्चं निरामयम्।
निराश्रयं निराकारं तत्वं जानाति योगवित्॥९२

टीका—समाधि में स्थित हुआ योगी आदि-अन्त से रहित, अवलम्ब और प्रपंच से रहित, विशुद्ध, आश्रय और आकार से हीन तत्व को जान लेता है॥९२

व्याख्या—परम तत्व का न आदि है, न जन्त ही है। उसका कोई अवलम्ब और आश्रय भी नहीं होता। वह तो जगत् प्रपंच से पृथक् निराकार और विशुद्ध है। उसे जो योगी जान लेता है, वही योग का यथार्थ ज्ञाता होता है।

इसीलिए साधक में योग में लीन होने की तत्परता होनी चाहिए। 'क्व त्रीच का त्रिवृत्तो रथस्य क्व त्रयो बन्धुरो येसनील

कदा योगी वाजिनो रासभस्य येन यज्ञ नासत्योपयाथः' (ऋक् १।३।४।९) अर्थात् अग्नि, जल, पृथिवी, इन तीन भूतों से बने शरीर के नीचे वाले तीन चक्र (मूलाधार, स्वाधिष्ठान और मणिपूर) कहाँ है ? तथा ऊपर के तीन चक्र (अनाहत, विशुद्ध और आज्ञा चक्र कहाँ है ? और शिव शक्ति मिलन रूप लीला स्थल अर्थात्) कुण्डलिनी कहाँ है ? हे अविनाशी पिता ! आपकी कृपा से मुझे यह सब ज्ञात हो जाय तो मैं योग-समाधि में लीन हो जाऊँ।

इस प्रकार समाधि में लीन होने की इच्छा करता हुआ योगी योग की क्रियाओं का ज्ञान प्राप्त करके जब समाधिस्थ हो जाता है, तब उसे आदि-अन्त-रहित, जगत्-प्रपंच से परे निरामय ब्रह्म का ज्ञान होता है और तब उसके लिए कुछ भी जानना शेष नहीं रहता।

निर्मलं निश्चलं नित्यं निष्क्रियं निर्गुणं महत्।
व्योमविज्ञानमानन्दं ब्रह्मं ब्रह्मविदो विदुः ॥९३

टीका—निर्मल, निश्चल, नित्य, निष्क्रिय, निर्गुण, महान्, व्योमरूप, विज्ञानरूप और आनन्दस्वरूप ब्रह्म को जो विद्वान् जान लेते हैं, वही ब्रह्मवेत्ता होते हैं ॥९२

व्याख्या--ब्रह्म कर्म-फल रूपी वासनाके के मल से रहित होने के कारण निर्मल है। चेष्टाओं से रहित होने के कारण निश्चल और परिणाम रहित होने के कारण नित्य है। वह किसी प्रकार के व्यापार का न करने वाला होने से निष्क्रिय अर्थात् क्रिया-रहित माना गया है और सत्व, रज, तम, इन तीन गुणों से पृथक् रहने के कारण निर्गुण कहलाता है। उसका परिमाण

नहीं किया जा सकता (नापा नहीं जा सकता) इसलिए महत् है। चिदाकाशस्वरूप होने के कारण उसे व्योम कहा गया है। बोधस्वरूप है। इसलिए वह विज्ञान है और अद्वैतानन्दरूप होने के कारण आनन्द है। ऐसे उस ब्रह्म को जो जान लेता है, उसी योगी को ब्रह्मविद् समझना चाहिए।

हेतुदृष्टान्तनिर्मुक्तं मनोबुद्ध्योरगोचरम् ।
व्योम विज्ञानमानन्दं तत्वं तत्वविदो विदुः ॥९४

टीका—हेतु और दृष्टान्त से निर्मुक्त, मन और बुद्धि द्वारा अगोचर तजा विज्ञान और आनन्द रूप उस तत्व को जो योगी जानता है, वही तत्ववेत्ता है ॥९४

व्याख्या—उसके प्रत्यक्ष होने में कोई हेतु या दृष्टान्त व्यर्थ रहता है वह मन और बुद्धि के द्वारा भी नहीं जाना जा सकता। वह चिदाकाशरूप, विज्ञान रूप और आनन्दस्वरूप है। श्वेताश्वतर उपनिषत् में स्पष्ट कहा है—

न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्।
यदा हृदिस्थं मनसा य एनं एवं विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥

अर्थात्—उसके रूप को कोई भी पुरुष नेत्रों द्वारा देखने में समर्थ नहीं है, क्योंकि उसके समक्ष दृष्टि तो ठहर ही नहीं सकती। जो विद्वान् इस हृदय में निवास करने वाले तत्व को हृदय और मन के द्वारा जान लेते हैं, वे अमृतत्व को प्राप्त होते हैं।

योग से सायुज्य पद की प्राप्ति

निरातङ्के निरालम्बे निराधारे निरामये।
योगी योगविधानेन परे ब्रह्मणि लीयते ॥९५

यथा घृते घृतं क्षिप्तं घृतमेव हि जायते ।
क्षीरं क्षीरे तथा योगो तत्वमेव हि जायते ।।९६

टीका—योगी पुरुष योग के विधान से अभ्यास सिद्ध होने पर आतंक-रहित, आलम्ब-रहित, आधार-रहित और विशुद्ध ब्रह्म में लीन हो जाता है। जैसे घृत में मिलाने पर घृत घृत ही रहता है और दूध में दूध मिलाने पर वह भी दूध ही रहता है, वैसे ही योगी तत्व में मिलकर तत्व ही हो जाता है ।।९५-९६

व्याख्या—'योगविधानेन' कह कर ग्रन्थकार ने स्पष्ट कर दिया है कि योगाभ्यास की सिद्धि विधि-विधान से ही हो सकती है। अविधि अभ्यास सिद्ध होने में नहीं आता और उससे हानि की भी संभावना रहती है। इसलिए योगशास्त्रों में वर्णित विधान से ही योग साधन में तत्पर होना चाहिए।

जब योगी का वह अभ्यास सिद्ध हो जाता है, तब उसे निरातंक, निराधार आदि ब्रह्म में लीन होने का अवसर मिल सकता है। 'निरातंक' का अभिप्राय है—जिसमें कोई आतंक न हो, क्योंकि आतंक होगा तो उससे मिलने में भय भी होगा और भय होने पर उससे मिलने की आकांक्षा ही कोई क्यों करेगा ? इसलिए सभी मुमुक्षु उससे मिलने या उसमें तादात्म्य होने की अभिलाषा किया करते हैं।

'निरालम्ब' कहने का अभिप्राय यह है कि उसका कोई आश्रय नहीं, वरन् वही सबका आश्रय और सबका आधार है। उसका कोई आधार न होने से वह 'निराधार' माना जाता है।

'निरामय' इसलिए है कि वह कभी किसी रोगादि से आक्रान्त नहीं हो सकता। उसके स्थान में रोग, शोक, क्रोधादि

किसी प्रकार का विकार नहीं हैं, इसलिए सभी साधक उसके सायुज्य पद को प्राप्त होने की आकांक्षा करते हैं, उसकी पूर्ति विधिवत् योगाभ्यास की सिद्धि से ही हो सकता है।

जब साधक इस परम तत्व में जा मिलता है, तब उसमें इतना एकाकार हो जाता है, जितना कि घृत में घृत या दूध में दूध मिलने पर होता है। आत्मरूप तत्व का परमात्मरूप परम-तत्व में मिल जाना ही सायुज्यपद की प्राप्ति समझनी चाहिए।

दुग्धे क्षीरं घृते सर्पिरग्नौ बह्निरिवार्पितः।
तन्मयत्वं व्रजत्येवं योगी लीनः परे पदे ॥९७

भवभयत्वं नृणां मुक्तिसोपानसंज्ञकम्।
गुह्याद्गुह्यतरं गुह्यं गोरक्षेण प्रकाशितम् ॥९८

टीका—दूध में दूध, घृत में घृत और अग्नि में अग्नि मिलाने पर जैसे उनका ऐक्य होता है, वैसे ही योगी परमपद में तन्मय हो जाता है। यह योगशास्त्र संसार के भय से मुक्ति दिलाने में सोपान स्वरूप है। इस गुह्य से भी परम गुह्य शास्त्र को गोरक्ष-नाथ ने प्रकट किया है ॥९७-९८

व्याख्या—दूध में दूध और घी में घी मिलकर एक हो जाने के समान ही अग्नि में अग्नि के मिलने पर भी उनका एकाकार ही होता है। उसी प्रकार यह आत्मा भी परमात्मा में लीन होकर परमपद में तन्मय हो जाता है। उसका कारण यह है कि आत्मा-परमात्मा में कोई भेद नहीं है, यह भेद तो केवल उपाधि के कारण ही दिखाई देता है। जब जीवात्मा उपाधि रहित हो जाता है तब उसकी परमात्मा से एकता स्वयं ही हो जाती है।

नारदपरिव्राजकोपनिषत् में कहा है कि 'आत्मा' परमात्मा का ही स्वरूप है। मल विक्षेप आचरण और विकारों के कारण वह स्वयं को शरीर समझने लगता है। इस प्रकार शरीर भाव को प्राप्त हुआ जीव जब आत्मज्ञान को प्राप्त कर लेता है, तभी ब्रह्म से ऐक्य स्थापना में समर्थ होता है।

गोरक्षसंहितामेतां योगभूतां जनः पठेत्।
सर्वपापविनिर्मुक्तो योगसिद्धिं लभेद् ध्रुवम् ॥९९

टीका—जो साधक इस गोरक्ष-संहिता नामक ग्रन्थ को मनोयोग पूर्वक पढ़ता है, वह सभी पापों से मुक्त होकर योग की सिद्धि को अवश्य ही प्राप्त करता है ॥९९

व्याख्या—इस ग्रन्थ का मनोयोग और भक्तिभाव सहित अध्ययन करने वालेके पाप तो दूर होते हो हैं,साथ ही उसे योग के विधि-विधान की जानकारी होती है तो उसका मन योगाभ्यास में प्रवृत्त होता है और उसके फलस्वरूप योगसिद्धि की प्राप्ति हो जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

योगशास्त्रं पठेन्नित्यं किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः।
यत्स्वयं चादिनाथस्य निर्गतं वदनाम्बुजात् ॥१००

टीका—जो पुरुष नित्यप्रति योगशास्त्र को पढ़ता है, उसे किसी अन्य शास्त्र के विस्तार की क्या आवश्यकता है ? क्योंकि यह शास्त्र साक्षात् आदिनाथ शिवजी के मुखारविन्द से ही निकला है ॥१००

व्याख्या—ग्रन्थकार का अभिप्राय है कि इस ग्रन्थ में जो कुछ भी है, वह स्वयं भगवान् शिवजी द्वारा कहा हुआ ही है

इसलिए इसका अध्ययन करना ही बहुत है। मुमुक्षु पुरुष यदि इसका मन लगाकर अध्ययन कर लेता है तब उसे किसी अन्य ग्रन्थ की अपेक्षा ही नहीं रहती।

इस प्रकार यह ग्रन्थ शिवजी के द्वारा कहा हुआ है, गोरक्षनाथजी ने इसका अध्ययन और अनुभव करके ही मुमुक्षुजनों के कल्याणार्थ प्रकट किया है।

योगशास्त्राध्ययने साधकस्य कृतकृत्यता

स्नातं तेन समस्ततीर्थसलिलं दत्ता द्विजेभ्यो धरा
यज्ञानां च हुतं सहस्रमयुतं देवाश्च संपूजिताः।
स्वाद्वन्नेन सुतर्पिताश्च पितरः स्वर्गं च नीताः पुनः
यस्य ब्रह्मविचारणे क्षणमपि प्राप्नोति धैर्यं मनः ॥१०१

टीका—जिसने इस ग्रन्थ का अध्ययन कर लिया, उसने मानो सभी तीर्थों के जल में स्नान कर लिया, उसने मानो ब्राह्मणों को पृथिवी का दान दिया और हजारों ही यज्ञों में आहुतियाँ दे लीं, मानों सभी देवताओं का पूजन और पितरों का तर्पण करके उन्हें स्वर्ग-लोक की प्राप्ति करा दी। क्योंकि उक्त सभी फल इसके द्वारा ब्रह्म-चिन्तन करने से क्षणभर में ही प्राप्त हो सकते हैं ॥१०१

व्याख्या—इस योगशास्त्र का अध्ययन करने और इसके उपदेशानुसार चलने से साधक को सर्वतीर्थ-स्नान, पृथिवी-दान, यज्ञानुष्ठान, देव-पितर पूजन आदि कोई भी कर्म शेष नहीं रह जाता। इसके द्वारा आत्म-चिन्तन या ब्रह्म-चिन्तन करता हुआ साधक सभी कुछ प्राप्त कर लेता है।

❀ गोरक्ष-संहिता का द्वितीय शतक समाप्त ❀

॥ गोरक्ष-संहिता सम्पूर्ण ॥

विश्व ओंकार परिवार की स्थापना

—×—×—

ॐ परमात्मा का सर्वश्रेष्ठ व स्वाभाविक नाम है। इसे मन्त्र शिरोमणि, मन्त्र सम्राट, मन्त्र-राज, बीज मन्त्र और मन्त्रों का सेतु आदि उपाधियों से विभूषित किया जाता है। इसे श्रेष्ठतम, महानतम और पवित्रतम मन्त्रों की संज्ञा भी दी जाती है। सारे विश्व में इसकी तुलना का कोई मन्त्र नहीं है। यह सभी मन्त्रों को अपनी शक्ति से भावित करता है। सभी मन्त्रों की शक्ति ओंकार की ही शक्ति है। यह शक्ति और सिद्धिदाता है। भौतिक व आध्यात्मिक उत्थान के लिए कोई भी दूसरी श्रेष्ठ व सरल साधना नहीं है।

सभी ऋषि-मुनि ॐ की शक्ति और साधना से ही अपना आत्मिक उत्थान करते हैं। परन्तु आज आश्चर्य है कि ॐ का अन्य मन्त्रों की तरह व्यापक प्रचार नहीं है। इस कमी को अनुभव करते हुए विश्व ओंकार परिवार की स्थापना की गई है। आप भी अपने यहाँ इसका एक प्रचार केन्द्र स्थापित करें। शाखा स्थापना का सारा साहित्य निःशुल्क रूप से प्रधान कार्यालय बरेली से मंगवा लें। आपको केवल इतना करना है कि स्वयं ओंकारोपासना आरम्भ करके चार अन्य मित्रों व सम्बन्धियों को प्रेरित करें और सभी संकल्प पत्र व शाखा स्थापना का प्रार्थना पत्र प्रधान कार्यालय को भिजवा दें। इस वर्ष ३३००० साधकों द्वारा १५०० करोड़ मन्त्रों के जप का महापुरश्चरण पूर्ण किया जाना है। आशा है कि ओंकार को जन-जन का मन्त्र बनाने के श्रेष्ठतम आध्यात्मिक महायज्ञ में आप सम्मिलित होकर महान् पुण्य के भागी बनेंगे।

ओंकार रहस्य, ओंकार दैनिक विधि, ओंकार चालीसा, ओंकार कीर्तन और ओंकार भजनावली नामक २० पैसे मूल्य वाली सस्ती पुस्तिकाओं को अधिक से अधिक संख्या में वितरित करें।

विनीत :

विश्व ओंकार परिवार **चमनलाल गौतम**

ख्वाजाकुतुब, वेदनगर, बरेली—२४३००३ (उ० प्र०)

एक मौन व्यक्तित्व का मौन समर्पण

—×—

डॉ० चमनलाल गौतम-एक व्यक्ति का नहीं वरन् ऐसे विशाल धार्मिक संस्थान का नाम है जो सतत् २४ वर्षों से ऋषि प्रणीत आर्ष साहित्य के शोध, प्रकाशक और व्यापक साहित्य प्रचार का कार्य देश विदेश में करता रहा है। यह उनकी तप साधना का ही परिणाम है कि किसी भी आर्थिक सहयोग के बिना वेद, उपनिषद्, दर्शन, स्मृतियाँ, पुराण व मन्त्र-तन्त्र आदि साधनात्मक साहित्य की ३०० से अधिक पुस्तकों को प्रकाशित करके घर-घर में पहुँचाने की पवित्रतम साधना कर रहे हैं। मन्त्र-तंन्त्र, योग, वेदान्त व अन्य धार्मिक विषयों पर १५० खोजपूर्ण ग्रन्थों का लेखन, सम्पादन एक ऐसा अविस्मरणीय व असाधारण कार्य है जिस पर उनके अथक श्रम, गम्भीर अध्ययन, तप, प्रतिभा और मौलिक सूझ-बूझ की स्पष्ट छाप दिखाई देती है। स्वस्थ साहित्य की रचना और प्रचार का उनकी जीवन योजना का यह पहला चरण पूरा हुआ।

पिछले ३० वर्षों से लगातार चल रही आध्यात्मिक साधना के महा-पुश्चरण का दूसरा चरण भी समाप्त हो रहा है। तीसरे चरण आध्यात्मिक साधनाओं और अनुभूतियों के विश्वव्यापी विस्तार का शुभारम्भ विश्व ओंकार परिवार की स्थापना के साथ बसन्तपञ्चमी की परम पवित्र बेला के साथ हो गया है। अतः उनका शेष जीवन तीसरे चरण की सफलता, ओंकार परिवार की शाखाओं के व्यापक विस्तार के माध्यम से करोड़ों व्यक्तियों को ओंकार साधना में प्रविष्ट करके उच्च आध्यात्मिक भूमिका में प्रशस्त करना ओंकार अथवा उच्च आध्यात्मिक साहित्य की रचना व प्रचार-प्रसार को समर्पित है।

—स्वामी सत्य भक्त